4. सामाजिक संस्थाएँ

विवाह, परिवार एवं नातेदारी

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, मनुष्य की मूल आवश्यकताएं है रोटी, कपड़ा और मकान है परन्तु इसके अलावा भावनात्मक सुरक्षा, स्नेह की चाह तथा संबंधों में स्थायित्व उसे 'विवाह' करने के लिए प्रेरित करती है। विवाह संस्था का मूल आधार भी संबंधों में स्थायित्व और भावनात्मक सुरक्षा है। परिवार भी एक सामाजिक संस्था है जिसका उद्देश्य प्रजनन है, इस उद्देश्य की पूर्ति समाज द्वारा मान्यता प्राप्त विवाह द्वारा की जाती है। विवाह एक सामाजिक संस्था है जो कि प्रत्येक समाज में किसी न किसी रूप में अवश्य विद्यमान रही है।

विवाह का अर्थ एवं परिभाषा–

विवाह समाज द्वारा मान्यता प्राप्त सामाजिक संस्था है जिसका उद्देश्य समाज में अनैतिकता का विलोपन है। विवाह का उद्देश्य साथ ही परिवार के संरक्षण एवं समाज के नवीन निर्माण हेतु किया गया है। भारत में जहाँ विवाह एक संस्कार के रुप में मान्य हुआ वहीं विश्व के अनेकानेक भागों में इसे अनुबंध के रुप में स्वीकार किया गया। मूलतः हम विवाह को एक ऐसी सामाजिक स्वीकृति के रुप में मानते हैं, जहाँ स्त्री और पुरुष अपने धर्मानुसार कुछ रीतिरिवाजों को पूर्ण कर एक दूसरे के साथ रहने का वचन लेते है। सुख दुख की सहभागिता के साथ सन्तानोत्पत्ति, विवाह की सार्थकता का प्रमाण बनती है।

विवाह की उत्पत्ति :

विवाह की उत्पत्ति कैसे हुई यह कहना अत्यन्त कठिन है लेकिन हरबर्ट स्पेन्सर के उद्विकास सिद्धान्त के प्रभाव से मार्गन ने विवाह की उत्पत्ति को बताने का प्रयास किया और उसने कठिन विकास के पांच स्तर बताये जिसमें प्रथम अवस्था रक्त संबंधी परिवार की है जिसमें रक्त का कोई भी संकोच किये बिना रक्त संबंधियों का विवाह होता था। दूसरी अवस्था समूह विवाह की है जिसमें एक परिवार के भाईयों का विवाह दूसरे परिवार की सब बहिनों के साथ होता था। तीसरी अवस्था सिंडेस्मियन परिवार की है जिसमें एक पुरुष का विवाह एक स्त्री से होता था। चौथी अवस्था पितृ सत्तात्मक परिवार की है जिसमें पुरुष का आधिपत्य था। वह एक से अधिक स्त्रियों के साथ विवाह करता था। पांचवीं और अंतिम अवस्था एक विवाह परिवार की है जिसमें एक समय में एक पुरुष एक स्त्री से विवाह करता है।

मार्गन के अनुसार विवाह के विकास की निम्नलिखित पांच अवस्था है–

1. रक्त संबंधी परिवार 2. समूह परिवार 3. सिंडेस्मियन परिवार 4. पितृ सत्तात्मक परिवार 5. एक विवाह परिवार।

किन्तु मार्गन का सिद्धान्त व्यवहारिक दृष्टि से उचित प्रतीत नहीं होता। यह जरूरी नहीं कि सभी समाजों में विवाह का विकास उपर्युक्त सभी अवस्थाओं से गुजरने के बाद ही हुआ हो। यह भी हो सकता है कि कोई एक समाज जब एक समूह विवाह की स्थिति में पहुंचा हो तब तक किसी दूसरे समाज में एक विवाह परिवार का विकास हो चुका हो और उसका अनुसरण करते हुए वह समाज भी बिना सिंडेस्मियन परिवार और पितृ सत्तात्मक परिवार की अवस्थाओं से गुजरे समूह विवाह की अवस्था से सीधा एक विवाह परिवार की अवस्था में पहुंच गया है।

विवाह की उत्पत्ति के संबंध में दूसरा सिद्धांत वेस्टर मार्क का है। इस सिद्धांत के अनुसार विवाह का स्वरूप प्रारम्भ से ही एक विवाह वाला रहा है वे कहते हैं कि आधिपत्य और ईर्ष्या की भावना के कारण पुरुष स्त्री को अपनी सम्पत्ति समझता था और उस पर एकाधिकार चाहता था इसमें वह अपनी शक्ति के बल पर सफल भी रहा। आगे चलकर शक्ति और बल प्रयोग की आवश्यकता बनी रही और पारस्परिक हित में पुरुष का यह अधिकार समाज द्वारा मान्य होकर सामाजिक रीति बन गया।

वेस्टर मार्क ने विवाह की उत्पत्ति और स्वरूप पर महत्वपूर्ण प्रकाश डाला तथा डार्विन के सिद्धान्त का समर्थन किया। जूकरमेन तथा मेलिनोवस्की ने भी वेस्टर मार्क के सिद्धान्त की पुष्टि की किन्तु मजूमदार और मदान ने इस सिद्धान्त पर कुछ आपत्तियां उठायी।

इसी तरह बेकोफन जैसे कुछ मानवशास्त्रियों, समाजशास्त्रियों ने भी विवाह की उत्पत्ति के संबंध में अपने विचार प्रस्तुत किये है।

विवाह की विशेषताएँ–

उपर्युक्त अध्ययन के आधार पर विवाह की कुछ निम्नलिखित विशेषताएँ स्पष्ट होती है–

1. विवाह एक सामाजिक संस्था है जिसके द्वारा स्त्री और पुरुष में संबंध स्थापित होते हैं।
2. विवाह सामाजिक–सांस्कृतिक संस्था है, जिसे कानून द्वारा मान्यता प्राप्त है।
3. विवाह द्वारा एक परिवार का निर्माण होता है तथा संतान को वैध स्थिति तथा माता–पिता के समान अधिकार मिलते हैं।
4. विवाह एक धार्मिक कृत्य अथवा सामाजिक समझौते के रूप में हो सकता है।
5. विवाह का एक ही रूप नहीं है अर्थात् सामाजिक–सांस्कृतिक भिन्नताओं के कारण विभिन्न समाजों में इसके रूप में अन्तर है।

6. विवाह परिवार को स्थायित्व प्रदान करता है।
7. विवाह एक सार्वभौमिक सामाजिक संस्था है।

विवाह संस्था के उद्देश्य–

गिलिन एवं गिलिन ने विवाह संस्था के निम्न उद्देश्य बताये हैं–

1. समाज की संस्कृति एवं मूल्यों की शिक्षा बच्चों को देने का माता–पिता पर उत्तरदायित्व विवाह के द्वारा ही निश्चित होता है।
2. विवाह का उद्देश्य है आर्थिक सहयोग। प्रत्येक स्थान पर विवाह के साथी कुछ श्रम–विभाजन पर सहमत होते हैं। विवाह में सम्पत्ति का प्रश्न भी सन्निहित होता है।
3. साथियों में भावनात्मक और अन्तरप्रेरणात्मक संबंधों की स्थापना।
4. वंशावली की स्थापना या पति–पत्नी जिस समूह में रहते हैं। उनके सामाजिक संबंधों को विशिष्ट रूप से नियमितता प्रदान करना।

इसके अतिरिक्त विवाह के धार्मिक उद्देश्य भी हो सकते हैं। हिन्दू लोग विवाह को धार्मिक संस्कार मानते हैं एवं विवाह का उद्देश्य भी मुख्य रूप से धर्म को मानते हैं। धर्म के माध्यम से ही वे अपने अंतिम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति कर सकते हैं। कोई भी हिन्दू बिना पत्नी की सहायता के धार्मिक उत्सव नहीं मना सकता। अतः प्रत्येक हिन्दू विवाह को एक धार्मिक कर्तव्य मानता है। हिन्दुओं में विवाह अनिवार्य है।

हिन्दू विवाह के प्रकार–

संसार के विभिन्न समाजों में अनेक प्रकार की सांस्कृतिक भिन्नताओं के स्वाभाविक परिणामस्वरूप विवाह के प्रकारों में भी बहुत अधिक भिन्नता देखने को मिलती है सामान्य रूप से भिन्नताएं निम्न तीन बातों पर निर्भर करती है–

1. जीवन साथी के चुनाव का तरीका।
2. पति और पत्नियों की संख्या और
3. विवाह से संबंधित नियम।

इन तीन बातों के आधार पर मोटे तौर पर हिन्दू विवाह के दो प्रकार माने जा सकते हैं– पहला हिन्दू विवाह के परम्परागत प्रकार और दूसरा हिन्दू विवाह के आधुनिक प्रकार।

हिन्दू विवाह के परम्परागत प्रकार :

विभिन्न स्मृतिकारों ने हिन्दू विवाह के प्रकारों की अलग–अलग संख्याएं बतायी है मानव गृहसूत्र में केवल दो प्रकार के विवाहों का उल्लेख किया है ब्रह्मा और शौलक। वशिष्ठ ने छः प्रकार के विवाहों को मान्यता दी है जबकि मनु ने हिन्दू विवाह के आठ प्रकारों का उल्लेख किया। मनु द्वारा उल्लेखित प्रकार ही अधिक महत्वपूर्ण माने जाते हैं। ये आठ प्रमुख प्रकार नियमानुसार है–

1. ब्रह्म विवाह– यह विवाह सभी प्रकार के विवाहों में सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। याज्ञवल्क्य के अनुसार ''वह विवाह जिसमें पिता ज्ञानी और सच्चरित वर को आमंत्रित करके अपनी सामर्थ्य के अनुसार अलंकारों से सुसज्जित कन्या का दान करता है, ब्रह्म विवाह कहलाता है ।

2. दैव विवाह– प्राचीनकाल में यज्ञ और धार्मिक अनुष्ठानों का अधिक महत्व था इन पवित्र धार्मिक कार्यों को सम्पन्न करवाने वाले पुरोहितों से जब वस्त्र और आभूषणों से अलंकृत कन्या का विवाह करवा दिया जाता था तो उसे दैव विवाह कहते थे। वर्तमान में इस प्रकार के विवाहों का प्रचलन नहीं है।

3. आर्ष विवाह– आर्ष शब्द का संबंध ऋषि से है। इस प्रकार के विवाह में जब एक ऋषि गाय और बैल का जोड़ा कन्या के पिता को भेंट करता था तो यह माना जाता था कि वह ऋषि विवाह करने का इच्छुक है। ऐसी स्थिति में कन्या का पिता विधिवत तरीके से अपनी लड़की का विवाह उस ऋषि से कर देता था। आधुनिक समय में इस प्रकार के विवाह समाप्त हो गये हैं।

4. प्राजापत्य विवाह– वह विवाह जिसमें कन्या का पिता अपनी पुत्री का कन्यादान वर को करते हुये यह कहता है ''तुम दोनों एक साथ रहकर आजीवन धर्म का आचरण करो,'' इस प्रकार सम्मानपूर्ण श्रेष्ठ व्यक्ति को अपनी पुत्री का कन्यादान करना तथा धर्म पालन का उपदेश देना ही प्राजापत्य विवाह कहलाता है।

5. असुर विवाह– एक प्रकार का क्रय विवाह अर्थात् कन्या के माता–पिता अथवा अभिभावक को अपनी सामर्थ्य के अनुसार वधू मूल्य देकर वधू प्राप्त करना असुर विवाह है। यह श्रेष्ठ विवाहों की श्रेणी में नहीं आता है। कन्या का मूल्य देना कन्या के सम्मान तथा परिवार में इसके स्थान की क्षतिपूर्ति का आधार माना गया।

6. गान्धर्व विवाह– एक प्रकार का प्रेम विवाह जिसमें दोनों प्रेमियों के स्वजनों की स्वीकृति आवश्यक नहीं। याज्ञवल्क्य के अनुसार ''प्रेम द्वारा होने वाले विवाह को गान्धर्व विवाह कहते हैं। प्राचीन काल में इस प्रकार के विवाह गान्धर्वों द्वारा किये जाते थे, इसलिये इन्हें गान्धर्व विवाह कहा गया।

7. राक्षस विवाह– युद्ध में कन्या का अपहरण कर किया गया विवाह राक्षस विवाह है। राक्षस विवाहों का प्रचलन उस समय अधिक था जब युद्धों का महत्व था। युद्ध में स्त्री का हरण करके उससे विवाह कर लिया जाता था। आधुनिक समय में इस प्रकार के विवाह समाप्त हो चुके हैं जो गैर कानूनी है।

8. पैशाच विवाह :– नींद में सोई हुई अथवा नशे में उन्मत्त अथवा राह में जाती हुई लड़की का शील भंग करके किया जाने वाला विवाह पैशाच विवाह है। यह हिन्दू विवाहों में सबसे निम्न कोटि का विवाह है। वर्तमान समय में इस प्रकार का कृत्य अपराध की श्रेणी में आता है।

उपरोक्त हिन्दू विवाह के 8 प्रकारों में से प्रथम चार

ब्राह्म, देव, आर्ष और प्राजापत्य विवाह उच्च श्रेणी का माना जाता है। वर्तमान काल में समाज में ब्राह्म विवाह का ही अधिक प्रचलन हैं कहीं–कहीं गान्धर्व व असुर विवाह का भी प्रचलन है।

पति और पत्नी की संख्या के आधार पर विवाह के दो मुख्य प्रकार है–

1. एक विवाह 2. बहु विवाह

बहु विवाह के तीन प्रकार हैं :–

- बहु पत्नी विवाह
- बहु पति विवाह और
- समूह विवाह

बहु पति विवाह भी दो प्रकार का होता हैं :–

1. भ्रातृ बहु पति विवाह और
2. अभ्रातृ बहु पति विवाह

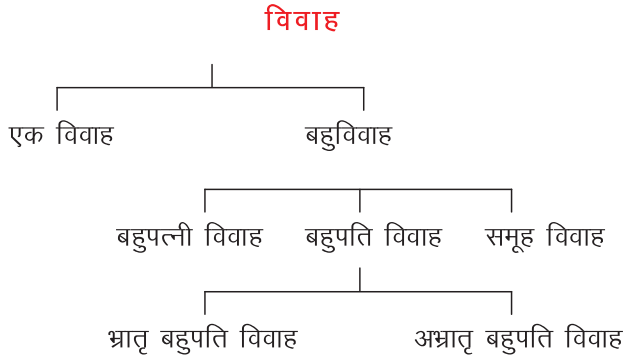

1. एक विवाह– इसका अभिप्राय यह है कि एक पुरुष या एक स्त्री का एक समय में एक ही स्त्री या एक ही पुरुष से विवाह। एक विवाह (Monogamy) की यह प्रथा यूरोपीय और अमेरीकन संस्कृतियों में अधिकांश रूप से पायी जाती है। मलाया द्वीप में भी पायी जाती है और भारत में हिन्दुओं में भी पायी जाती है।

2. बहुविवाह :– एक ही समय में जब एक पुरुष के एक से अधिक पत्नियाँ होती हैं या एक स्त्री के एक से अधिक पति होते हैं तो ऐसे विवाह को बहु विवाह (Polygamy) कहते हैं। बहु विवाह के निम्नलिखित प्रमुख स्वरूप है–

● **बहुपत्नी विवाह** : एक पुरुष के एक ही समय में एक से अधिक पत्नियाँ होना बहु पत्नी विवाह कहलाता है। उदाहरण के लिये नागा, गोंड, बैगा, टोडा, लुशाई आदि।

● **बहुपति विवाह** : एक स्त्री के एक ही समय में एक से अधिक पति होना बहु पति विवाह (Polyandry) कहलाता है। उदाहरण के लिये तियाण, खस, कोटा, लछाखी बोटा, कश्मीर से लेकर आसाम तक के क्षेत्र में रहने वाले इंडो आर्यन और मंगोलॉयड। बहुपति विवाह का प्रचलन तुलनात्मक रूप में सीमित है। भारत में बहु पति विवाह दो प्रकार का है :–

(अ) भ्रातृ बहुपति विवाह : खस और टोडा जनजाति की तरह जब कई भाई मिलकर एक स्त्री के पति होते हैं तो इस प्रकार के विवाह को भ्रातृ बहुपति विवाह कहते हैं।

(ब) अभ्रातृ बहुपति विवाह : ऐसे विवाह में पतियों के बीच निकट संबंध नहीं होता है और पत्नी थोड़े–थोड़े समय के लिए सभी पतियों के यहाँ जाकर रहती है, इस विवाह का प्रचलन भी टोडाओं में पाया जाता है,

● **समूह विवाह** : यह विवाह का वह स्वरूप है जिसमें पुरुषों का एक समूह स्त्रियों के समूह से विवाह करता है और प्रत्येक पुरुष उस समूह की प्रत्येक स्त्री के साथ संबंध रख सकता है, ऐतिहासिक प्रमाणों से समूह विवाह की पुष्टि नहीं होती है। कुछ आदिम जन–जातियों में नातेदारी शब्दावली के आधार पर समूह विवाह होने की कल्पना की गई है।

हिन्दू विवाह–धार्मिक संस्कार है। के.एम. कापड़िया अपनी पुस्तक भारत में विवाह और परिवार में लिखते हैं ''जब हिन्दू विचारकों ने धर्म को विवाह का प्रथम तथा सर्वोच्च उद्देश्य तथा सन्तानोत्पादन को दूसरा प्रमुख उद्देश्य माना तो विवाह पर धर्म का आधिपत्य हो गया। हिन्दू विवाह एक संस्कार है। यह पवित्र समझा जाता है क्योंकि यह तभी पूर्ण होता है जबकि यह पवित्र कृत्य पवित्र मन्त्रों के साथ किया जाये।''

'संस्कार' शब्द का अर्थ किसी सभ्यता या संस्कृति से नहीं है वरन् संस्कार एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके माध्यम से व्यक्ति का विशेष प्रकार से समाजीकरण किया जाए। संस्कार कर्मकाण्डी नहीं है बल्कि व्यक्ति के विशेष क्रिया पक्षों से जुड़ा हुआ शब्द है। जो समय समय पर मनुष्य को दिशा निर्देश देते हैं। विवाह के द्वारा एक व्यक्ति गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता है जो अन्य सभी आश्रमों का मूल है। हिन्दू धर्मशास्त्रों में जिन चार पुरुषार्थों का उल्लेख किया गया है उनकी पूर्ति गृहस्थाश्रम में ही सम्भव है। ये चार पुरुषार्थ है धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। हिन्दू लोग यह विश्वास करते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति तीन प्रकार के ऋणों के साथ जन्म लेता है। ये तीन प्रकार के ऋण हैं– पितृ ऋण, देव ऋण और ऋषि ऋण। पितरों के ऋण से उऋण होने के लिये श्राद्ध के अवसर पर पितरों का तर्पण, पिण्डदान आदि किये जाते हैं और ये करने का अधिकार धर्मशास्त्रों के अनुसार मुख्य रूप से संतान का ही होता है। संतान की प्राप्ति हिन्दू विवाह पद्धति के अन्तर्गत कुछ धार्मिक कृत्यों को सम्पादन कर विवाह की पूर्णता के लिये आवश्यक है। इन धार्मिक कृत्यों में होम, पाणिग्रहण, सप्तपदी आदि प्रमुख हैं। मंत्रों के उच्चारण के साथ अग्नि में लाजाओं का होम किया जाता है और अग्नि हिन्दुओं के तैंतीस कोटि देवी–देवताओं में से एक है। पाणिग्रहण के अन्तर्गत कन्या का पिता या संरक्षक हाथ में जल लेकर वेदमंत्रों का उच्चारण करते हुए लड़के ''वर'' को कन्या का दान करता है जिसे स्वीकार करके वर अग्नि तथा भगवान को साक्षी मानकर वधू के हाथ को अपने हाथ में लेकर पाणिग्रहण करता है तथा वेद मन्त्रों के

उच्चारण के साथ वर तथा वधू कुछ प्रतिज्ञाएँ करते हैं तदनन्तर दोनों गाँठ बान्धकर अग्नि के समक्ष उत्तर–पूर्व की दिशा में सात कदम एक साथ चलते हैं जिसे सप्तपदी कहते हैं। एक हिन्दू पुरुष अपने जीवन में अनेक संस्कार (आमतौर पर) सम्पादित करता है। इन संस्कारों का सम्पादन वह क्रमशः एक के बाद एक करके पूरा करता है। ये संस्कार क्रमशः हैं गर्भधान, पुंसवन, सीमन्तोनयन, जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चूड़ाकरण, कर्णछेदन, विद्यारम्भ या पट्टीपूजन उपनयन विवाह और अन्त्येष्टि। हिन्दू धर्मशास्त्रों ने इन सोलह संस्कारों के सम्पादन का विधान किया है। विवाह संस्कार द्वारा एक हिन्दू स्त्री व पुरुष गृहस्थाश्रम में प्रवेश करके धार्मिक व सामाजिक दृष्टि से पूर्णता प्राप्त करते हैं।

हिन्दुओं में विवाह को पवित्र ईश्वर द्वारा निश्चित तथा जन्मजन्मान्तर का गठबन्धन माना जाता है। चूंकि विवाह ईश्वर द्वारा निश्चित पवित्र गठबन्धन है इसलिये यह अटल और अटूट है। विवाह करने वाले वर या वधू दोनों में से किसी भी एक पक्ष को यह अधिकार नहीं है कि वह इस बन्धन को तोड़ सके। जन्मजन्मान्तर का गठबन्धन होने से एक हिन्दू स्त्री पति की मृत्यु के बाद भी पति से बन्धी हुई मानी जाती है।

हिन्दू धर्मशास्त्रों ने विवाह के उद्देश्यों का निर्धारण करते समय धार्मिक कर्तव्यों के पालन को पहला स्थान दिया। धार्मिक कर्तव्यों में यज्ञ सबसे महत्त्वपूर्ण है। इन यज्ञों की सँख्या पाँच है। ये यज्ञ हैं ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ, पितृयज्ञ और अतिथियज्ञ इन यज्ञों को सम्पन्न करने के लिये पत्नी की आवश्यकता होती है। एक गृहस्थ के लिए कुछ धर्मशास्त्रों ने इन पंच महायज्ञों की व्यवस्था की हैं। यह विवेचन इस बात की स्पष्ट धोषणा है कि हिन्दू विवाह एक धार्मिक संस्कार है।

हिन्दू विवाह से सम्बन्धित सामाजिक विधान : समय समय पर हिन्दू विवाह से सम्बन्धित अनेक सामाजिक विधान बनाये गये जिसमें प्रमुख विधान निम्नलिखित हैं–

1. सतीप्रथा निषेध अधिनियम, 1829
2. हिन्दू विधवा पुनर्विवाह अधिनियम, 1856
3. बाल विवाह निरोधक अधिनियम, 1929
4. अलग रहने एवं भरण पोषण हेतु हिन्दू विवाहित स्त्रियों का अधिकार अधिनियम, 1946
5. दहेज निरोधक अधिनियम, 1961
6. विशेष विवाह अधिनियम, 1954
7. हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955

मुस्लिम विवाह– मुसलमानों में विवाह के लिए निकाह शब्द का प्रयोग किया जाता है। मुस्लिम विवाह की परिभाषा देते हुये डी.एफ मुल्ला कहते हैं ''निकाह (विवाह) एक शिष्ट सामाजिक समझौता है जिसका उद्देश्य संतान उत्पन्न करना एवं उनको वैध घोषित करना हैं। ''के.एम. कापड़िया मानते हैं कि ''इस्लाम में विवाह एक अनुबन्ध है जिसमें दो साक्षियों (प्रत्येक पक्ष में एक साक्षी) के हस्ताक्षर होते हैं। इस अनुबन्धन का प्रतिफल ''मेहर'' वधू को दिया जाता हैं। इसकी रकम कानून द्वारा निर्धारित नहीं होने से एक दीनार से ऊपर घटती बढ़ती रहती है।'' इन परिभाषाओं से निम्नलिखित बातें स्पष्ट होती हैं–

1. मुस्लिम विवाह एक सामाजिक समझौता हैं।
2. विधि द्वारा मान्य समझौते के तीनों आवश्यक तत्व प्रस्ताव, स्वीकृति एवं प्रतिफल मुस्लिम विवाह में सम्मिलित हैं।

मुस्लिम विवाह के प्रकार– मुस्लिम समाज में निम्न प्रकार के विवाह पाये जाते हैं–

1. वैध विवाह– ऐसा विवाह जो मुस्लिम विवाह की समस्त शर्तों को पूरा करते हुये किये गये हैं वैध विवाह कहते हैं। हमारे देश के अधिकांश मुसलमानों में विवाह के इसी स्वरूप का प्रचलन हैं। इस विवाह की प्रकृति आम तौर पर तब तक स्थायी होती है जब तक कि कोई पक्ष दूसरे पक्ष को तलाक नहीं दे। इस प्रकार के विवाह में वर और वधू की स्वीकृति आवश्यक होती है। नाबालिग होने की स्थिति में संरक्षक की अनुमति/स्वीकृति आवश्यक होती है। प्रत्येक पक्ष में एक साक्षी होता है तथा काजी की उपस्थिति अनिवार्य होती है। शरीयत के अनुसार अन्य आवश्यक शर्तें पूर्ण करते हुए विवाह किया जाता हैं।

2. मुताह विवाह– इस विवाह की प्रकृति अस्थायी होती है अर्थात् यह विवाह पति और पत्नी के बीच एक निश्चित अवधि के लिये किया गया समझौता है जैसे ही समझौते की अवधि समाप्त होती है विवाह सम्बन्ध भी समाप्त हो जाता है। मुताह विवाह में भी मेहर की रकम निश्चित की जाती है जिसे विवाह की अवधि समाप्त होते ही पति.पत्नी को चुकाता है। इस विवाह के द्वारा उत्पन्न सन्तान को वैध माना जाता है तथा उसका पिता की सम्पत्ति पर अधिकार भी होता है। वर्तमान समय में इस विवाह का प्रचलन समाप्त होता जा रहा है।

सन् 1939 में मुस्लिम विवाह विच्छेद अधिनियम पारित किया गया और मुस्लिम स्त्रियों की विवाह विच्छेद सम्बन्धी सभी निर्योग्यताएँ दूर कर उन्हें व्यापक अधिकार प्रदान किये गये। अधिनियम के प्रावधानों के अनुसार यदि पति का चार वर्षों से कोई पता न हो, दो वर्ष से पत्नी का भरण–पोषण करने में असमर्थ हो, बिना किसी उचित कारण के तीन वर्षों से वैवाहिक कर्तव्य को निभाने में असमर्थ रहा हो, सात या अधिक वर्षों के लिए पति को जेल की सजा मिली हो, पति पागल हो, कोढ़ी हो, पत्नी के साथ क्रूरतापूर्ण व्यवहार करता हो, उसके धार्मिक कार्यों में रुकावट डालता हो, उसकी सम्पत्ति को बेचता हो, सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकारों में बाधा उत्पन्न करता हो, सभी पत्नियों के साथ समानता का व्यवहार नहीं करता हो आदि आधारों पर विवाह विच्छेद की मांग का अधिकार मुस्लिम

स्त्रियों को दिया गया। इस अधिनियम के पारित होने से पहले मुस्लिम स्त्री को बिना पति की स्वीकृति के विवाह विच्छेद का अधिकार नहीं था।

ईसाई विवाह–ईसाई विवाह की परिभाषा देते हुए क्रिश्चियन बुलेटिन में कहा गया है कि "विवाह समाज में एक पुरुष तथा एक स्त्री के बीच एक समझौता है जो साधारणतः सम्पूर्ण जीवन भर के लिये होता है और इसका उद्देश्य परिवार की स्थापना है। इस परिभाषा से निम्नलिखित बातें स्पष्ट होती हैं–

1. ईसाई विवाह स्त्री पुरुष के बीच एक समझौता है।
2. यह समझौता आजीवन रहता है।
3. यह समझौता जीवन भर के लिये किये जाने के कारण पति और पत्नी के सम्बन्धों में स्थिरता लाता है।
4. इस समझौते के द्वारा सन्तानोत्पत्ति के माध्यम से परिवार का निर्माण किया जाता है।

ईसाई विवाह के प्रकार : ईसाइयों में निम्नलिखित दो प्रकार के विवाहों का प्रचलन है–

1. धार्मिक विवाह : ये विवाह गिरजाघरों में पादरी द्वारा वर व वधू को पति पत्नी घोषित करने के साथ सम्पन्न होता है अधिकांशतः ऐसे विवाह नियोजित होते हैं।

2. सिविल मैरिज : विवाह के इच्छुक युवक व युवती को मैरिज रजिस्ट्रार, पति–पत्नी घोषित कर देता है।

ईसाई विवाह से सम्बन्धित विधान : ईसाई विवाह से सम्बन्धित विधान निम्नलिखित हैं–

1. भारतीय विवाह विच्छेद अधिनियम 1869
2. भारतीय ईसाई विवाह अधिनियम 1872

ईसाई धर्म की दो शाखाएँ हैं रोमन कैथोलिक और प्रोटेस्टेण्ट रोमन कैथोलिक विवाह विच्छेद को स्वीकार नहीं करते हैं जबकि प्रोटेस्टेण्ट परिस्थिति में इसे स्वीकार करते हैं। 1869 में पारित भारतीय विवाह विच्छेद अधिनियम के अनुसार एक ईसाई स्त्री भी उन्हीं आधारों पर विवाह विच्छेद की माँग कर सकती है जिन आधारों पर हिन्दू स्त्री को विवाह विच्छेद की मांग का अधिकार है।

भारतीय ईसाई विवाह अधिनियम 1872 के अनुसार विवाह के लिये लड़के की आयु 16 वर्ष और लड़की की आयु 13 वर्ष होना अनिवार्य है। लड़के और लड़की की आयु इससे कम होने पर उनके संरक्षक की स्वीकृति अनिवार्य है। विवाह के समय दोनों में से किसी का भी पहला जीवन साथी नहीं होना चाहिये। पादरी या सरकार द्वारा लाइसेन्स प्राप्त व्यक्ति अथवा सरकार द्वारा नियुक्त मैरिज रजिस्ट्रार दो ईसाईयों के बीच विवाह करवा सकते हैं। मैरिज रजिस्ट्रार की अनुपलब्धता पर जिला मजिस्ट्रेट विवाह करवा सकता है। विवाह के समय दोनों पक्ष पादरी अथवा मैरिज रजिस्ट्रार के सम्मुख दो गवाहों की मौजूदगी में ईश्वर की शपथ लेकर वैधानिक रूप से एक दूसरे को पति–पत्नी स्वीकारते हैं। एस. के. गुप्ता के अध्ययन के अनुसार भारत में ईसाइयों में अधिकांश विवाह 21 से 25 वर्ष की आयु में होते हैं।

"परिवार"

"परिवार समाज की प्रथम पाठशाला है।"

परिवार का अर्थ–

परिवार का अंग्रेजी रूपान्तरण है family। family शब्द लेटिन भाषा के शब्द famulu से निकला है जिसका मूल अर्थ माता–पिता, बच्चों, सेवकों एवं दासों के एक समूह से है।

परिवार मानव समाज की एक मौलिक एवं सार्वभौमिक इकाई है। प्रत्येक समाज की संरचना में परिवार केन्द्रीय इकाई है, जो किसी न किसी रूप में संसार के सभी समाजों में पायी जाती है। परिवार में स्त्री–पुरुष दोनों को सदस्यता प्राप्त रहती है। प्रत्येक समाज में चाहे वह आदिम हो या आधुनिक, परिवार का होना आवश्यक है, क्योंकि बिना परिवार के समाज का अस्तित्व संभव नहीं है। मनुष्य मरता है परन्तु परिवार की सहायता से मानव जाति अमर हो गई है, क्योंकि समाज में जो व्यक्ति मर जाते हैं, उनके रिक्त स्थानों को परिवार ही नयी संतानों से भरकर पूर्ति कर देता है।

परिवार की परिभाषा–परिवार की प्रमुख परिभाषाएँ निम्नानुसार हैं–

बील्स एवं हाईजर के अनुसार, संक्षेप में परिवार को सामाजिक समूह के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जिसमें सदस्य रक्त संबंधों द्वारा परस्पर बँधे रहते हैं।

बोगार्ड्स के अनुसार, परिवार एक छोटा सामाजिक समूह है जिसके सदस्य माता–पिता एवं एक या अधिक बच्चे होते हैं जिनमें स्नेह एवं उत्तरदायित्व का समान हिस्सा होता है तथा जिसमें बच्चों का पालन–पोषण उन्हें स्वनियंत्रित एवं सामाजिक प्रेरित व्यक्ति बनाने के लिए होता है।

मेकाइवर एवं पेज के अनुसार, परिवार एक ऐसा समूह है जो लिंग संबंधों के आधार पर परिभाषित किया जा सकता है, जो इतना छोटा एवं स्थायी है कि जिसमें संतानोत्पत्ति एवं उनका पालन–पोषण किया जा सके।

मजूमदार एवं मदान के अनुसार, परिवार व्यक्तियों का एक ऐसा समूह है जो एक ही छत के नीचे रहते हैं, वंश तथा रक्त संबंधी सूत्रों से सम्बद्ध रहते हैं तथा स्थान, हित और कृतज्ञता की अन्योन्याश्रितता के आधार पर जाति की जागरूकता रखते हैं।

आगबर्न एवं निमकॉफ के अनुसार, "परिवार, पति एवं पत्नी की संतान रहित या संतान सहित या केवल पुरुष या स्त्री के बच्चों सहित कम या स्थायी समिति है।"

उपरोक्त परिभाषाओं से स्पष्ट होता है कि परिवार वैवाहिक बंधन एवं रक्त संबंधों पर आधारित एक उपयोगी एवं अनिवार्य समुदाय है जिसमें पति–पत्नी और बच्चे नियमित

जीवन व्यतीत करते हुए एक ही स्थान पर रहते हैं।

परिवार

परिवार की विशेषताएँ

परिवार की विशेषताओं को निम्नलिखित दो भागों में बाँटा जा सकता है–

परिवार की सामान्य विशेषताएँ–परिवार की सामान्य विशेषताएँ निम्नलिखित हैं–

1. पति और पत्नी का सम्बन्ध : पति और पत्नी का सम्बंध समाज स्वीकृति से विवाह के पश्चात् स्थापित होता है और आजीवन इसे निर्वाहित करने की अपेक्षा की जाती है।

2. विवाह का कोई न कोई स्वरूप : प्रत्येक समाज में, परिवार में कुछ निश्चित नियमों के अन्तर्गत पति और पत्नी के सम्बंध निर्वाहित होते है। यद्यपि पूर्व में कुछ जनजातियो में इसका स्वरुप बहुविवाह एवं समूह विवाह के रुप में भी हुआ करता था।

3. वंश परम्परा या नामकरण : प्रत्येक परिवार में उत्पन्न होने वाली सन्तानों का नामकरण माता के वंश के आधार पर या पिता के वंश के आधार पर और कभी–कभी माता–पिता के वंश के साथ साथ स्थान के आधार पर भी किया जाता हैं।

4. बच्चे की उत्पत्ति, पालन–पोषण और आर्थिक सहायता : प्रत्येक परिवार अपनी वंश परम्परा को बनाये रखने के लिये संतानोत्पत्ति करता हैं। उनका पोषण करता है और कुछ न कुछ ऐसी आर्थिक व्यवस्था करता है जिससे परिवार के सदस्यों की आवश्यकतायें पूरी होती रहें।

5. सामान्य निवास : सामान्य निवास का अर्थ है कि परिवार के सदस्य एक साथ एक ही छत के नीचे रहते हैं और उनका खाना एक ही रसोई में बनता है।

परिवार की विशिष्ट विशेषताएँ : परिवार का स्वरूप चाहे जो भी उसकी कुछ विशिष्ट विशेषताएँ उसे दूसरे सामाजिक समूहों से अलग करती हैं और उसे व्यक्ति तथा समाज के लिये अत्यावश्यक तथा महत्त्वपूर्ण बनाती है। ये विशिष्ट विशेषताएँ निम्नलिखित हैं जिनका उल्लेख मैकाइवर और पेज ने अपनी पुस्तक ''समाज'' में किया है–

1. सार्वभौमिकता : परिवार का संगठन सार्वभौमिक है। परिवार प्रत्येक समाज में पाया जाता है चाहे वह समाज सामाजिक विकास की किसी भी अवस्था में हो। अभिप्राय यह है कि परिवार अतीत काल में भी था वर्तमान समय में भी है और भविष्य में भी रहेगा।

2. भावात्मक आधार : मनुष्य में अनेक स्वाभाविक मूल प्रवृत्तियाँ पायी जाती है जिसमें से ''भावना'' भी एक स्वाभाविक मूल प्रवृत्ति है। परिवार के सदस्य इसी भावना के आधार पर एक दूसरे से गहराई और तीव्रता के साथ जुड़े रहते हैं। पति पत्नी का पारस्परिक प्यार, त्याग और समर्पण माता–पिता और अन्य बुजुर्गों का अपनी सन्तान के प्रति वात्सल्य, माता का अपने बच्चों के प्रति अथाह प्रेम उसे बच्चों के लिये बड़ा से बड़ा त्याग करने के लिये प्रेरित करता है।

3. सीमित आकार : अपनी जैविकीय दशाओं के कारण परिवार सीमित आकार का होता है। परिवार का सदस्य वही हो सकता है जिसने या तो परिवार में जन्म लिया है या परिवार में विवाह किया है। ''हम दो हमारे एक'' की विचारधारा के कारण आधुनिक युग में परिवार रक्त समूह से पृथक हो गया है और केवल पति पत्नी और बच्चे मिलकर परिवार का निर्माण करते हैं।

4. रचनात्मक प्रभाव : परिवार व्यक्ति का प्रथम सामाजिक पर्यावरण है। इस रूप में कि वह परिवार में जन्म लेता है और कुछ वर्षों तक उसी में सीमित रहता है। व्यक्ति बचपन में कच्ची मिट्टी के समान होता है उसे किसी भी रूप में ढाला जा सकता है। चूंकि परिवार बच्चे की प्रथम पाठशाला है और ''माता–पिता बच्चे की प्रथम दो पुस्तकें हैं'' इसलिये व्यक्ति पर बचपन में जो संस्कार पड़ जाते हैं वे अमिट रहते हैं और आगे चलकर व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास उन्हीं संस्कारों पर होता है।

5. सामाजिक संरचना में केन्द्रीय स्थिति : परिवार सामाजिक संगठन की प्रारम्भिक और केन्द्रीय इकाई है और सम्पूर्ण सामाजिक ढाँचा परिवार पर आधारित है। कई परिवारों से मिलकर ही वंश, गोत्र, उपजाति, जाति, समुदाय, एवं समाज बनता है। सरल तथा छोटे समाजों में सम्पूर्ण सामाजिक संरचना परिवार की इकाइयों से निर्मित होती है।

6. सदस्यों का असीमित उत्तरदायित्व : परिवार में सदस्यों का उत्तरदायित्व असीमित होता है। परिवार का प्रत्येक सदस्य परिवार के किसी भी छोटे अथवा बड़े कार्य को निजी हित के रूप में नहीं वरन् अपना कर्तव्य समझकर अपनी क्षमता से भी अधिक प्रयत्नों द्वारा पूरा करने का प्रयास करता है। यद्यपि परिवार में श्रम विभाजन होता हैं।

7. सामाजिक नियमन : परिवार समाज की केन्द्रीय इकाई होने और सम्पूर्ण सामाजिक ढ़ाँचा परिवार पर आधारित होने के कारण पारिवारिक नियम समाज को व्यवस्थित रूप देने में आधारभूत होते हैं। पारस्परिक सम्बन्धों, शिष्टाचार, रीतियों, प्रथाओं, कर्त्तव्यबोध आदि द्वारा व्यक्ति पर नियन्त्रण रखकर परिवार सामाजिक जीवन को नियमित बनाता है।

8. अस्थायी एवं स्थायी प्रकृति : परिवार एक समिति भी है और संस्था भी है। समिति के रूप में परिवार अस्थायी है क्योंकि परिवार पति, पत्नी, बच्चों आदि से मिलकर बनता है। बच्चे के जन्म, विवाह, तलाक, मृत्यु आदि कारणों से

परिवार के आकार में परिवर्तन हो सकता है। संस्था के रूप में परिवार स्थायी है वह आदिकाल से चला आ रहा है। समाज के सदस्यों ने परिवार को सुचारू रूप से चलाने के लिये नियम और कार्य प्रणालियाँ बनायी हैं वे उनके न रहने पर भी बने रहते हैं।

परिवार के प्रकार– परिवार के कुछ प्रमुख निम्नानुसार हैं–

परिवार की प्रकृति के आधार पर– परिवार की प्रकृति के आधार पर परिवार दो प्रकार का होता है–पहला केन्द्रीय या एकाकी परिवार दूसरा संयुक्त परिवार।

केन्द्रीय या एकाकी परिवार– इस प्रकार का परिवार पति–पत्नी और अविवाहित बच्चों को लेकर बनता है। वर्तमान में भारतीय समाज में इस प्रकार के परिवारों की संख्या बढ़ती जा रही है।

संयुक्त परिवार– जब दो या दो से अधिक पीढ़ी के विवाहित सदस्य एक साथ रहते हों अथवा या तीन से अधिक पीढ़ियों के सदस्य साथ–साथ एक ही घर में निवास करते हैं तो वह संयुक्त परिवार है। जैसा कि एस.सी. दुबे का मत है– जब कई मूल परिवार एक साथ रहते हों, एक ही स्थान पर भोजन करते हों और एक आर्थिक इकाई के रूप में कार्य करते हों तो उनके सम्मिलित रूप को संयुक्त परिवार कहा जाता है।

विवाह के आधार पर– विवाह के आधार पर परिवार तीन प्रकार का होता है। एक विवाही परिवार, बहुविवाही परिवार और समूह विवाही परिवार।

एक विवाही परिवार : एक विवाही परिवार से तात्पर्य है जब कोई स्त्री अथवा पुरुष एक समय में एक पुरुष अथवा एक स्त्री से विवाह करते हैं। पति अथवा पत्नी की मृत्यु के बाद वे चाहे तो दूसरा विवाह कर सकते हैं।

बहुविवाही परिवार : जब कोई पुरुष या स्त्री एक समय में एक से अधिक स्त्री या पुरुष से विवाह हैं तो उसे बहुविवाही परिवार कहते हैं। ये दो प्रकार का होता है– बहुपति विवाही परिवार और बहुपत्नी परिवार।

बहुपति विवाह परिवार– जब एक स्त्री के एक समय में एक से अधिक पति होते हैं तो उसे बहुपति विवाही परिवार कहते हैं। बहुपति विवाही परिवार भी निम्न दो प्रकार का होता है–भ्रातृबहु पति विवाही और अभ्रातृबहु पति विवाही परिवार–

बहुपति विवाही परिवार : जब कई भाई मिलकर एक समय में एक स्त्री के पति होते हैं तो भ्रातृबहु विवाही परिवार कहते हैं।

बहु पति विवाही परिवार : इस प्रकार के परिवार में पतियों के बीच निकट सम्बन्ध नहीं होता है पत्नी थोड़े–थोड़े समय के लिये सभी पतियों के यहाँ जाकर रहती है।

बहु पत्नी विवाही परिवार– जब एक पुरुष के एक ही समय में एक से अधिक पत्नियाँ होती हैं तो परिवार को बहुपत्नी विवाही परिवार कहते हैं।

समूह विवाही परिवार– यह परिवार का वह स्वरूप है जिसमें पुरुषों का एक समूह, स्त्रियों के एक समूह से विवाह करता है और प्रत्येक पुरुष उस समूह की प्रत्येक स्त्री के साथ सम्बन्ध रख सकता है।

निवास स्थान के आधार पर– निवास स्थान के आधार पर परिवार निम्नलिखित प्रकार का होता है–

पितृ स्थानीय परिवार– विवाह के बाद जब स्त्री अपने पति के घर जाकर रहती है तो उसे पितृ स्थानीय परिवार कहते हैं।

मातृ स्थानीय परिवार– विवाह के बाद जब पति अपनी पत्नी के घर जाकर रहता है तो ऐसा परिवार मातृ स्थानीय परिवार कहलाता हैं।

मातुल स्थानीय परिवार– विवाह के बाद जब दम्पत्ति पति की माँ के भाई अर्थात् पति के मामा यहाँ जाकर रहते हैं तो उसे मातुल स्थानीय परिवार कहते हैं।

नवस्थानीय परिवार– जब नव विवाहित दम्पत्ति न तो पति के यहाँ जाकर रहें और न ही पत्नी के जाकर रहें वरन् दोनों से अलग नया ही निवास बनाकर रहें तो परिवार का यह प्रकार नवस्थानीय परिवार कहलाता हैं।

परिवार के कार्य : परिवार का प्रकार्यात्मक महत्त्व प्रत्येक समाज में एक विशेष, निश्चित और लगभग अनिवार्य होता है। परिवार की सामाजिक भूमिका होती है जो प्रत्यक्ष तौर पर परिवार के सदस्यों के लिये होती है और अप्रत्यक्ष तौर पर समाज की व्यापक संरचना इकाइयों, जाति, वर्ग या पूरे समाज के लिये महत्वपूर्ण रूप में होती है। परम्परागत समाजों में और भारत जैसे समाज में परिवार की भूमिका को नहीं नकारा जा सकता है। परिवार में व्यक्ति का केवल जन्म ही नहीं होता है वरन् समाजीकरण भी होता है। परिवार के कार्य चाहे जैविक हों, अथवा सामाजिक या सांस्कृतिक हों यदि परिवार इन्हें पूरा न करे तो समाज कैसा होगा यह निर्भर करता है उसके सदस्यों पर और व्यक्ति कैसा होगा यह निर्भर करता है परिवार की संरचना पर। परिवार के कार्यों को प्रमुख रूप से निम्नलिखित दो भागों में विभाजित किया जा सकता है– मौलिक एवं सार्वभौमिक कार्य तथा परम्परागत कार्य–

(अ) मौलिक एवं सार्वभौमिक कार्य : ये वे कार्य हैं जिन्हें प्रत्येक समाज में पाया जाने वाला परिवार करता है। यह समाज चाहे किसी भी देश अथवा काल में रहा हो। परिवार के इन कार्यों पर किसी समाज विशेष की संस्कृति का कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। परिवार के मौलिक और सार्वभौमिक कार्यों के अन्तर्गत निम्नलिखित कार्य आते हैं–

1. जैविकीय कार्य : जैविकीय कार्यों के अन्तर्गत निम्नांकित कार्यों को सम्मिलित किया जाता है–

(i) सन्तानोत्पत्ति– प्रत्येक मनुष्य में कुछ मूल प्रवृत्तियाँ पायी जाती हैं जिसमें सन्तानोत्पत्ति भी एक है। प्रत्येक स्त्री में माँ बनने की और प्रत्येक पुरुष में पिता बनने की

मूल प्रवृत्ति पायी जाती है। परिवार सन्तानोत्पत्ति के माध्यम से इस मूल प्रवृत्ति को संतुष्ट कर व्यक्ति के व्यक्तित्व का समुचित विकास करता है।

(ii) शारीरिक और मनोवैज्ञानिक सुरक्षा– परिवार अपने सदस्यों को शारीरिक और मनोवैज्ञानिक सुरक्षा प्रदान करता है। शारीरिक सुरक्षा का तात्पर्य दुर्घटना, बीमारी तथा बेरोजगारी के समय दिये जाने वाले सहयोग और संरक्षण से है। जबकि मनोवैज्ञानिक सुरक्षा का तात्पर्य परिवार द्वारा व्यक्ति को दिये गये उस विश्वास से है कि कोई भी अन्य व्यक्ति या समूह उसके हितों पर समाज विरोधी रूप से आघात नहीं पहुँचा पायेगा। दोनों ही प्रकार की सुरक्षा की भावना जीवन की सफलता के लिये अति आवश्यक है। परिवार इसे बिना किसी शर्त के व्यक्ति को प्रदान करता है।

(ब) परम्परागत कार्य : परिवार के परम्परागत कार्य इस प्रकार है :–

1. सामाजिक कार्य :– सामाजिक कार्यों के अन्तर्गत–

(i) प्रस्थिति का निर्धारण करना– परिवार समाज में व्यक्ति की प्रस्थिति और दायित्व निश्चित करता है। परिवार ही यह निश्चित करता है कि उसका सदस्य व्यक्ति किन लोगों से मिलेगा और किन लोगों से नहीं मिलेगा। परिवार ही यह निश्चित करता है कि विवाह सम्बन्ध किन लोगों से करेगा और कई बार यह भी कि वह किस प्रकार जीविकोपार्जन करेगा। इसका कारण यह है कि परिवार के व्यक्ति की प्रतिष्ठा पूरे परिवार की प्रतिष्ठा और एक व्यक्ति की बदनामी पूरे परिवार की मानी जाती है।

(ii) समाजीकरण– व्यक्ति को जैविकीय प्राणी से सामाजिक प्राणी बनाने की प्रक्रिया का नाम समाजीकरण है जिसके द्वारा बच्चा सांस्कृतिक विशेषताओं, आत्म और व्यक्तित्व को प्राप्त करता है। बच्चा परिवार में जन्म लेता है, परिवार उसे समाज के अनुरूप बना देता है।

(iii) समाज की संस्कृति को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक पहुँचाना– परिवार में बड़े बुजुर्गों ने जो कुछ भी सीखा होता है उसे वे अपने बच्चों को सिखाने का प्रयत्न करते हैं और यह पीढ़ी दर पीढ़ी चलता रहता है।

(iv) सामाजिक नियन्त्रण– बच्चा जिस वक्त परिवार में जन्म लेता है उसे रोने के अतिरिक्त कुछ नहीं आता है। जैसे– जैसे वह बड़ा होता है। ''कुछ'' सीखता है। यह सीखना अच्छाई की तरह भी हो सकता है और बुराई की तरह भी हो सकता है। प्राथमिक समूह उन सब बातों पर प्रतिबन्ध लगाते हैं जो समाज में बुरी अथवा समाज विरोधी समझी जाती है और उन बातों को सीखने के लिये प्रेरित करते हैं जो समाज में अच्छी समझी जाती हैं प्राथमिक समूहों में परिवार सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण संस्था होने के कारण इसका अपने सदस्यों पर बड़ा कठोर नियन्त्रण होता है इससे समाज में व्यवस्था बनी रहती है।

2. सांस्कृतिक कार्य : संस्कृति समाज द्वारा व्यक्ति को विरासत में मिलने वाला उपहार है। समाज के रीति–रिवाज, प्रथाएँ, परम्पराएँ, धर्म, कानून एवं अन्य सांस्कृतिक तत्व परिवार के सदस्यों द्वारा बालकों को सिखाये जाते हैं जिससे उनमें समान मनोवृत्ति का विकास होता है जिसे इन्हें स्वीकार करने के लिये वे प्रेरित होते हैं।

3. आर्थिक कार्य : इसके अन्तर्गत निम्नलिखित कार्य आते हैं :–

(i) श्रम विभाजन– आयु और लिंग के आधार पर परिवार में प्रत्येक सदस्य की एक निश्चित स्थिति और कार्य होता है। साधारणतया, कठिन और बाहरी कार्य पुरुष करते हैं तथा अपेक्षाकृत आसान और घरेलू काम महिलाएँ करती है। पिता आर्थिक कार्यों को करता है और परिवार का प्रधान समझा जाता है। माता भोजन और घर की व्यवस्था तथा बच्चों की देखभाल करती हैं।

(ii) आर्थिक क्रियाओं का केन्द्र– परिवार समस्त आर्थिक क्रियाओं का केन्द्र रहा है। उपभोग से लेकर उत्पादन, विनिमय एवं वितरण तक की सारी क्रियाएँ परिवार द्वारा सम्पन्न की जाती रही है। प्राचीनकाल में परिवार उत्पादन का प्रमुख केन्द्र था और उपभोग का आज भी प्रमुख केन्द्र है। पत्नी, बच्चों तथा बड़े बुजुर्गों की जिम्मेदारी के कारण ही व्यक्ति आर्थिक क्रियाओं में संलिप्त रहता है।

(iii) सम्पत्ति का वितरण– पारिवारिक सम्पत्ति का उचित वितरण अपने सदस्यों में करके परिवार संघर्षों को कम करता है।

4. धार्मिक कार्य : परिवार धर्म का प्रमुख केन्द्र है। हिन्दू शास्त्रकारों के अनुसार तो परिवार का निर्माण ही धार्मिक कृत्यों को पूरा करने के लिये होता है। हिन्दू दर्शन कई कार्यों को तभी मान्यता प्रदान करता है जब व्यक्ति उन्हें गृहस्थ बनने के बाद करता है और पारिवारिक स्तर पर करता है। कुछ विशेष प्रकार के दान, यज्ञ आदि जिन्हें संयुक्त कर्त्तव्य कहकर सम्बोधित किया गया है।

5. शैक्षिक कार्य : परिवार बच्चे की प्रथम पाठशाला है। बच्चे भविष्य में जो कुछ भी बनते हैं परिवार की शिक्षा के फलस्वरूप होते हैं। हमारे महापुरुष इसके उदाहरण हैं। परिवार में वृद्ध सदस्य अपने अनुभवों और ज्ञान के आधार पर बालकों एवं युवा पीढ़ी को मार्गदर्शन देते रहते हैं। प्राचीन काल में भारतीय समाज में व्यावसायिक शिक्षा भी परिवार द्वारा ही दी जाती थी।

6. मनोरंजनात्मक कार्य : परिवार अपने सदस्यों का वीर कथाओं, लोक गाथाओं, शिक्षाप्रद कहानियों, व्यक्तिगत अनुभवों आदि के माध्यम से मनोरंजन करता है जो कि मनोरंजन की अन्य व्यावसायिक संस्थाओं की तुलना में स्वस्थ होता है। इरावती कर्वे कहती हैं कि संयुक्त परिवारों में हमेशा

कोई न कोई उत्सव, त्यौहार, विवाह, जन्म, नामकरण, संस्कार, अतिथियों का आगमन, गीत आदि होते रहते हैं।

7. राजनीतिक कार्य : परिवार अपने राजनीतिक विचारों को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में हस्तान्तरित करता है। यद्यपि आज की परिस्थिति में ऐसा कहना कठिन है कि परिवार ऐसा करता है क्योंकि भारत में हुऐ पिछले कई आम चुनावों में एक ही परिवार के सदस्य भिन्न विचारधाराओं वाले राजनीतिक दलों से चुनाव लड़ते देखे गये।

परिवार/संयुक्त परिवार के कार्यों में परिवर्तन : परिवार के बारे में पिछले पाँच दशकों में जो भी समाजशास्त्रीय अध्ययन हुये अधिकांशतः परिवार में होने वाले परिवर्तनों के अध्ययन से संबंधित रहे हैं (विशेषकर भारतीय सन्दर्भ में) ऐसे अध्ययन गाँवों में भी किये जाते रहे हैं और नगरों में भी किये जाते रहे हैं। इन परिवर्तनों को मुख्य रूप से दो स्तरों पर समझा जा सकता है। संरचनात्मक परिवर्तन और प्रकार्यात्मक परिवर्तन :–

1. संरचनात्मक परिवर्तन : यह विचार कि संयुक्त परिवार टूटते जा रहे हैं और एकाकी परिवार पनपते जा रहे हैं, सही नहीं है। इस सन्दर्भ में आई.पी. देसाई का कहना है कि संयुक्त परिवार न तो सम्मिलित निवास पर निर्भर करता है और न ही आकार पर। संयुक्त परिवार के सदस्य जन्म, विवाह और मृत्यु पर अपने अधिकारों और कर्त्तव्यों का पारस्परिक रूप से पालन करते हैं। यह अवश्य है कि नगरों में परिवार का आकार छोटा होने लगा है जिसमें पति, पत्नी और उनकी अविवाहित संतानें साथ रहती हैं। सन्तानों की संख्या में भी कमी आई है। इनको एकाकी परिवार (Nuclear family) कहा जा सकता है। परिवार की संरचना सम्बन्धी दूसरा परिवर्तन यह हुआ है कि पहले लड़के और लड़कियों का विवाह जल्दी कर दिया जाता था। एक निश्चित आयु में पहुँचने पर जिसे कि विवाह की ''प्राणीशास्त्रीय आयु'' कहते हैं। लड़की की आयु विवाह के योग्य हो जाने पर उसका विवाह कर दिया जाता था। लेकिन आजकल ऐसा नहीं होता है। आजकल विवाह की प्राणीशास्त्रीय आयु का स्थान ''विवाह की आर्थिक आयु'' ने ले लिया अर्थात लड़का जब तक कमाने नहीं लगता है और अपने पैरों पर खड़ा नहीं हो जाता है उसका विवाह नहीं किया जाता है। बदलते हुए सामाजिक मूल्यों और आदर्शों के कारण लोगों का रूझान पुनः लड़के और लड़कियों के जल्दी विवाह कर दिये जाने की ओर हो रहा है। पहले नियोजित विवाह ही किये जाते थे। माता पिता या परिवार के बड़े बुजुर्ग जिस लड़के या लड़की के साथ चाहते अपने लड़के या लड़की का विवाह कर देते थे। परन्तु आजकल ऐसा नहीं होता है। लड़का और लड़की अपनी सहमति से भी विवाह करने लगे हैं और कई बार ऐसा भी होता है कि उनके विवाह करने के बाद ही उनके परिवारों को पता चलता है। कुछ परिवारों में जहाँ कि कठोरता के साथ नियमों का पालन किया जाता है आज भी नियोजित विवाह किये जाते हैं। लेकिन उन परिवारों में भी लड़के या लड़की की सहमति आवश्यक समझी जाने लगी है अर्थात् नियोजन मात्र औपचारिक रह गया है।

2. प्रकार्यात्मक परिवर्तन : पहले परिवार उत्पादन की एक प्रमुख इकाई था लेकिन आज परिवार के आर्थिक कार्य समाप्त होते जा रहे हैं यद्यपि उसका उपभोगात्मक पक्ष ज्यों का त्यों बना हुआ है। बच्चे का जन्म भी पहले परिवार में ही होता था और वे समस्त कार्य जो कि बच्चे के जन्म से सम्बन्धित होते थे परिवार द्वारा ही सम्पादित किये जाते थे। आज बच्चे का जन्म अस्पताल में होता है और वे कार्य जो बच्चे के जन्म से सम्बन्धित हैं अस्पताल के कर्मचारियों द्वारा किये जाते हैं। अरस्तू और प्लेटो ने परिवार को बच्चे की ''प्राथमिक पाठशाला'' कहा है लेकिन इसका स्थान आज अन्य शिक्षण संस्थाओं ने ले लिया है। धार्मिक कार्य भी परिवार से हस्तान्तरित हो गये हैं। रस्मो–रिवाजों में भी परिवर्तन दृष्टिगत होते हैं। पहले यदि कहीं विवाह होता था तो कम से कम एक महीना पहले मेहमान पहुँच जाते, विवाह सम्बन्धी लोकगीतों और लोकनृत्यों की धूम मची रहती थी लेकिन आज इन कार्यों के लिये परिवार के सदस्यों के पास समय का अभाव है। आज इनके स्थान पर फिल्मी गीतों नृत्यों का बोलबाला है। न ही आज मेहमान समय से पहले आते हैं और कभी–कभी तो ऐसा भी होता है कि विवाह होने वाला है वे भी ठीक समय पर ही पहुँचते हैं। बढ़ती हुई गतिशीलता के कारण कई–कई घर बदलने पड़ते है इसलिये अपनेपन की भावना का विकास नहीं हो पाता है। विवाह–विच्छेद बढ़ता जा रहा है। पहले विवाह को पवित्र, धार्मिक एवं ईश्वर द्वारा निश्चित किया हुआ जन्म–जन्मान्तर गठबन्धन माना जाता था। लेकिन आज विवाह के साथ जुड़ी हुई पवित्रता की भावना समाप्त होती जा रही है और विवाह वैधानिक समझौता बन कर रह गया है। रक्त सम्बन्धियों का महत्व भी पहले जैसा नहीं रहा है केवल प्राथमिक और निकट के रक्त सम्बन्धियों का ही ध्यान रखा जाता है। स्त्री और पुरुष के सम्बन्ध भी काफी परिवर्तित हो गये है। स्त्रियाँ परिवार के बाहर कमाने जाती हैं उनकी वेश–भूषा और रहन–सहन के तरीकों तथा व्यवहार प्रतिमानों में परिवर्तन होने लगा है। परिवार में स्त्रियों का महत्त्व बढ़ता जा रहा है। परिवार से पुरुष की तानाशाही एकाधिकार समाप्त हो गया है क्योंकि स्त्री भी पुरुष के समान अधिकारों का दावा करने लगी है जिसे सुदृढ़ आधार प्रदान करने के लिये अन्तर्राष्ट्रीय महिला वर्ष मनाया जाता है। परिवार में माता–पिता और संतानों के मध्य संबंधों में भी परिवर्तन देखा जा सकता है। शारीरिक दण्ड के स्थान पर सुझाव और अनुनय का प्रयोग किया जाने लगा है, परिवार के बड़े सदस्यों का बच्चों के प्रति व्यवहारों और समाजीकरण के प्रतिमानों में भी परिवर्तन आने लगा है।

परिवार में परिवर्तन के कारक : आधुनिक युग में

परिवार का स्वरूप एकदम परिवर्तित होता जा रहा है। इन परिवर्तनों के लिए कुछ कारकों को जिम्मेदार माना जा सकता है–

(1) औद्योगीकरण एवं नगरीकरण या नवीन आर्थिक शक्तियाँ,

(2) पश्चिमी शिक्षा या नवीन विचार और आधुनिक सोच,

(3) परिवार में मनोवैज्ञानिक द्वन्द्व, तथा

(4) सामाजिक अधिनियम और कानून।

पश्चिमी शिक्षा और इसके प्रभाव में जिस तरह की विचारधारा, व्यक्तित्व व मानसिकता का निर्माण होता है उससे परिवार प्रभावित होता है। संरचनात्मक–प्रकार्यात्मक दृष्टि से इस तरह इसमें बदलाव भले ही न आये लेकिन संरचना और प्रकार्य दोनों ही बदले हुए देखे जा सकते हैं। उदाहरण के लिये पीढ़ियों का अन्तर, परिवार के कर्त्ता की स्थिति में महत्वपूर्ण बदलाव या अवमूल्यन, विभिन्न पारस्परिक सम्बन्ध (पति–पत्नी, पिता–पुत्र, परिवार की महिला सदस्यों के बीच हुई नई प्रवृत्ति आदि)।

पुत्र के विवाह के बाद सास–बहू, ननद–भाभी और देवरानी–जिठानी आदि के अन्तः पारस्परिक सम्बन्धों की तनाव पूर्ण टकराहट के कारण परिवार टूटते रहे, अलगाव आता रहा और पूर्ण व आदर्श रूप से संयुक्त रहना सम्भव नहीं हो सका। पश्चिमी शिक्षा, संस्कृति एवं विचारधारा के कारण परिवार के सदस्यों में व्यक्तिवादिता, उपयोगितावाद, स्वतंत्रता व स्त्री–पुरुष में समानता आदि विचारों ने संयुक्त परिवारों में विघटन को जन्म दिया है। संयुक्त परिवारों में सम्पत्ति, बच्चों को लेकर होने वाले झगड़ों से मुक्ति पाने के लिये भी संयुक्त परिवार छोड़कर लोग सुख–शान्ति के लिये एकाकी परिवारों में रहने लगते हैं। यदि तटस्थ और मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखा जाय तो भारतीय समाज में ये उपर्युक्त तत्व प्रभावी रहें हैं और पूर्ण संयुक्त न रहने की जो परिस्थितियाँ उत्पन्न हुई है उसके लिये भी।

भारत में अंग्रेजों के समय व स्वतन्त्रता के बाद कई तरह के सामाजिक कानून बनाये जाते रहे हैं। स्वाभाविक रूप से इन कानूनों नें परिवार को प्रभावित किया है। संयुक्त परिवार की एकता का मूल कारण था कि व्यक्ति का पारिवारिक सम्पत्ति में व्यक्तिगत अधिकार नहीं था। हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम, 1929 द्वारा व्यक्ति को सम्पत्ति का अधिकार दे दिया गया, चाहे वह संयुक्त परिवार से अलग रहता हो। इसी प्रकार सन् 1939 में हिन्दू स्त्रियों को सम्पत्ति में अधिकार दे दिया गया। सम्पत्ति के बंटवारे के प्रावधानों ने संयुक्त परिवार को एकाकी परिवारों में बदलने की प्रक्रिया को गति प्रदान की। इसी प्रकार आयकर संबंधी नियमों ने भी संयुक्त परिवार को विघटित किया है।

भारत का परिवार किन अंशों तक संयुक्त हैं ? पूर्ण या आंशिक– इसका अर्थ है कि जैविक संरचना के तौर पर और वास्तविकता और संभावना के तौर पर जो संयुक्त परिवार हो सकते हैं या परिवार के रूप में रह सकते हैं, हम यह मान लेते हैं कि भारत में संयुक्त परिवार की वास्तविकता भी ऐसी ही रही होगी या है, सच्चाई यह है कि हमारी प्रवृत्ति तो आदर्श संयुक्त की बनी रही लेकिन व्यवहार में हम आदर्श का निर्वाह नहीं कर सके और पिता की मौजूदगी में ही उसके विवाहित पुत्रों के एकाकी परिवार बनते देखे जाते हैं। फिर भी हमारे यहाँ संयुक्त की एक संरचना और स्वजन पद्धति (नातेदारी) है अर्थात भारतीय परिवार की विलक्षणता संरचनात्मक तौर पर एकाकी हो कर भी प्रकार्यात्मक तौर पर संयुक्त रूप से जुड़े होना है। वर्तमान में संयुक्त परिवार के परम्परागत लक्षणों में परिवर्तन हो रहे हैं। किन्तु अलग रहकर भी परिवार के सदस्य उत्तरदायित्वों की दृष्टि से एक सूत्र में बँधे रहते हैं। कापड़िया का मत है कि हिन्दू मनोवृत्तियाँ आज भी संयुक्त परिवार के पक्ष में है तथापि बदली हुई परिस्थितियों में नगरीय क्षेत्रों में संयुक्त परिवार को अपने परम्परागत रूप में बनाए रखना संभव नहीं है।

नातेदारी (स्वजनता)

नातेदारी या स्वजनता एक व्यापक और जटिल सन्दर्भ है, जैसे संस्कृति, समाज, सामाजिक संगठन, सामाजिक संरचना आदि। ये सभी सीमित अर्थ और विषय सामाग्री के अध्ययन नहीं है, इनकी कई बातें मूर्त वास्तविकताएँ या तथ्य हैं जिनका हम स्वतन्त्र तौर पर अध्ययन करते हैं जैसे परिवार, विवाह, नातेदारी।

साधारणतः लोग नातेदारी के महत्व को नहीं समझ पाते हैं और जो कुछ वे समझ पाते हैं वह भी धारणात्मक होता है, यह धारणा भी विचित्र है, कि परिहार, परिहास, पितृश्वश्रेय, मातुलेय, कूवेद आदि हमारे अन्तर्सम्बन्धों में नहीं है, जनजातियों या आदिम जातियों से जुड़ी हुई बातें हैं, हमसे नहीं।

नातेदारी या स्वजनता की परिभाषा :– शाब्दिक तौर पर नातेदारी का अर्थ कुछ विशेष तरह के सम्बन्ध, कुछ नजदीकी सम्बन्ध जो आधारभूत होते हैं, लगभग स्थायी होते हैं, प्रदत्त होते हैं या बन जाते हैं, से लिया जाता है। यह उल्लेख करना प्रासंगिक होगा कि नातेदारी शब्द से एक विशेष प्रकार के विवाह (कुछ जातियों में स्त्री को नाते बिठाने की प्रथा) का भ्रम होता है जबकि नातेदारी का अर्थ उन रिश्ते–नातों से है जिनके कारण अर्जुन को महाभारत के युद्ध से पूर्व मोह उत्पन्न हो गया था और भगवान श्री कृष्ण ने जिन नाते रिश्तेदारों को स्वजन कहा था अर्थात् रक्त और विवाह के आधार पर बनने वाले सम्बन्धी।

नातेदारी की परिभाषा देते हुए मजूमदार और मदान अपनी पुस्तक 'सामाजिक मानवशास्त्र परिचय' में कहते हैं, 'सभी समाजों में मनुष्य अनेक प्रकार के बन्धनों द्वारा आपस में समूहों में बंधे हुए होते हैं, इन बन्धनों में सबसे अधिक सार्वभौमिक तथा आधारभूत बन्धन वह है जो सन्तानोत्पत्ति पर आधारित होता है, संतानोत्पत्ति मानव की स्वाभाविक इच्छा है

और नातेदारी कहलाती है।' इस परिभाषा में मजूमदार ने बताया कि संतानोत्पत्ति से ही नातेदारी प्रथा अपने अग्रिम विकास की स्थिति तक पहुँच पाती है।

रॉबिन फॉक्स के अनुसार, ''नातेदारी केवल स्वजन अर्थात् वास्तविक अथवा कल्पित समरक्तता वाले व्यक्तियों के मध्य सम्बन्ध है जो किसी भी प्रकार पैदा हो सकता है अर्थात् वह वास्तविक भी हो सकता है और कल्पित भी।'' कल्पित सम्बन्धों से तात्पर्य गोद लिये हुए बच्चों से है। रैड क्लिफ ब्राउन नातेदारी को परिभाषित करते हुए कहते हैं, ''नातेदारी सामाजिक उद्देश्यों के लिए स्वीकृत वंश सम्बन्धी है जो कि सामाजिक सम्बन्धों के परम्परात्मक सम्बन्धों का आधार है।'' ब्राउन ने नातेदारी सम्बन्धों को सामाजिक महत्व और परम्परा के आधार पर परिभाषित किया है।

इस परिभाषा से निम्नलिखित बातें स्पष्ट होती हैं–

1. नातेदारी में उन व्यक्तियों को सम्मिलित करते हैं जिनका परस्पर सम्बन्ध विवाह अथवा रक्त के आधार पर होता है।
2. वंशावली सम्बन्ध परिवार से होते हैं।
3. ये वंशावली सम्बन्ध परिवार से उत्पन्न होते हैं और परिवार पर ही आश्रित रहते हैं, और
4. इन वंशावली सम्बन्धों को समाज की स्वीकृति प्राप्त होती है।

स्पष्ट है कि नातेदारी एक सामाजिक तथ्य है और इस कारण इसमें कभी–कभी वे लोग भी आ जाते हैं जो वंशावली के आधार पर रक्त सम्बन्धी नहीं होते हैं जैसे दत्तक पुत्र।

नातेदारी के प्रकार– बोहेनन के अनुसार सामान्यतः नातेदारी के अन्तर्गत जैविक या अर्द्धजैविक आधार पर बनने वाले सम्बन्ध होते हैं या आते हैं, किन्तु जब हम इन सम्बन्धों को नातेदारी के अन्तर्गत लेते हैं तो इन सम्बन्धों को लेकर जितने समूह, संस्थाएँ, प्रथाएँ, लोकाचार, सम्बोधन या शब्दावली आदि की रचना होती है, वे सभी नातेदारी के अन्तर्गत आ जाते हैं, जिनका जैविक पक्ष होता है लेकिन जैविक पक्ष होने के साथ–साथ जैविक पक्ष से अधिक सामाजिक–सांस्कृतिक पक्ष होता है। वस्तुतः सामाजिक संरचना, आर्थिक हितों का निर्वाह, सम्पत्ति हस्तांतरण, वंश–निर्धारण, शिक्षण–प्रशिक्षण, नियंत्रण, प्रस्थिति निर्धारण, धार्मिक निर्योग्यताएँ या विशेषाधिकार, सम्बन्ध सूचक शब्दों का भाषा शास्त्रीय रूप आदि सभी बातें नातेदारी के अन्तर्गत आ जाती है। संक्षेप में नातेदारी का अभिप्राय उन सामाजिक सांस्कृतिक संरचनाओं को समझना है जो कि समाज में सदस्यों के बीच रक्त या विवाह के आधार पर बनने वाले जैविक या अर्द्ध जैविक सम्बंधों को लेकर विकसित होती है, इस आधार पर नातेदारी अथवा स्वजनता तीन प्रकार की मानी जा सकती है, रक्त सम्बन्धी, विवाह सम्बन्धी और काल्पनिक।

(अ) रक्त सम्बन्धी नातेदारी– जिस परिवार में व्यक्ति जन्म लेता है उस परिवार के सभी सदस्य उसके रक्त के स्वजन होते हैं। माता–पिता, भाई–बहन, दादा–दादी, मामा, मौसी, नाना–नानी, चाचा, बुआ आदि रक्त सम्बंधी नातेदारी में आते हैं।

(ब) विवाह सम्बन्धी नातेदारी– पति पत्नी के बीच आपसी एवं एक दूसरे के पक्ष के साथ बनने वाले सम्बन्धों के आधार बनने वाले सम्बन्धी इस प्रकार की नातेदारी के अन्तर्गत आते हैं। सास, ससुर, ननद, भाभी, देवरानी, जेठानी, जीजा, साली, साढू, फूफा आदि विवाह सम्बन्धी नातेदारी है।

(स) काल्पनिक नातेदारी– रक्त सम्बन्धी स्वजनता सदैव जैविकीय ही हो, आवश्यक नहीं है। पिता और पुत्र का सम्बन्ध रक्त पर आधारित सम्बन्ध है लेकिन ऐसा हो सकता है कि पुत्र वास्तविक न होकर गोद लिया हुआ हो। इस प्रकार की नातेदारी को काल्पनिक नातेदारी कहते हैं।

नातेदारी या स्वजनता का समाजशास्त्रीय महत्व– नातेदारी या स्वजनता के आधार पर ही विवाह, परिवार, वंश उत्तराधिकारी, सामाजिक दायित्वों आदि का निर्धारण होता है। नातेदारी या स्वजनता के आधार पर ही यह निश्चित होता है कि विवाह किस से हो सकता है और किससे नहीं हो सकता है। विवाह के द्वारा परिवार अस्तित्व में आता है। परिवार को परिवार बनाये रखने के लिए तथा मानव समाज को मानव समाज बनाये रखने के लिए परिवार तथा विवाह में नातेदारी या स्वजनता का पालन अनिवार्य है। इसी के आधार पर व्यक्ति के वंश का निर्धारण होता है कि व्यक्ति पितृ वंशीय होगा या मातृ वंशीय होगा। वंश परम्परा ही परिवार में उत्तराधिकार निश्चित करती है और बताती है कि परिवार के मुखिया की मृत्यु के पश्चात् उसकी सम्पत्ति तथा परिवार के मुखिया का पद किसे प्राप्त होगा। सम्पत्ति तथा उत्तराधिकार के निर्धारण की भाँति ही नातेदारी सामाजिक दायित्वों का निर्धारण भी करती हैं। परिवार में किसी विवाहित सदस्य की मृत्यु हो जाने पर उसकी विधवा पत्नी तथा बच्चों का भरण–पोषण नातेदार ही करते हैं। नातेदारी न केवल व्यक्ति के सामाजिक दायित्वों का निर्धारण करती है वरन् उसे सुरक्षा तथा मानसिक सन्तोष भी प्रदान करती है। पारस्परिक सम्बंधों में जो व्यक्ति जितना नजदीक होगा नातेदार उसकी आर्थिक सहायता के लिए उतना ही अधिक तत्पर रहेंगे। नातेदारी उसको यह विश्वास दिलाकर कि वह समाज में अकेला नहीं है उसको मानसिक सुरक्षा देती है।

नातेदारी या स्वजनता की रीतियाँ या व्यवहार– नातेदारी या स्वजनता की रीतियाँ व्यक्ति को यह बताती हैं कि विभिन्न नातेदारों में से किस नातेदार के साथ कैसा व्यवहार करना है और किस नातेदार के साथ कैसा व्यवहार नहीं करना है। माता–पिता और सन्तान के बीच जैसा व्यवहार होता है वैसा व्यवहार पति और पत्नी के बीच नहीं हो सकता है। जैसा व्यवहार पति और पत्नी के बीच होता है वैसा व्यवहार भाई–

बहिनों के बीच नहीं हो सकता है। व्यक्ति का भाई–बहिन के साथ जो व्यवहार होता है सास–ससुर के साथ नहीं हो सकता है और सास–ससुर के साथ जैसा व्यवहार व्यक्ति करता है साले–साली के साथ नहीं कर सकता है। किसी स्वजन के साथ हँसी मजाक का सम्बन्ध होता है तो किसी नातेदार के साथ श्रद्धा और सम्मान का सम्बंध होता है। स्पष्ट है कि नातेदारी में दो नातेदारों के बीच कैसा सम्बन्ध या व्यवहार होगा इसके कुछ निश्चित नियम है। इन्ही नियमों को हम नातेदारी अथवा स्वजनता की रीतियाँ या व्यवहार कहते हैं जो निम्नलिखित हैं–

1. परिहार– इसका अर्थ है कि कुछ सम्बन्धी जिनके सम्बन्ध कुछ विशिष्ट श्रेणियों में आते हैं। एक दूसरे से एक निश्चित दूरी बनाये रखते हुए परस्पर अन्तःक्रिया करते हैं जैसे कई समाजों में सास अपने दामाद से घूंघट निकालती है और बातें भी करती हो तो घूंघट की आड़ में करती है, बहू अपने ससुर या बड़े भाई (ज्येष्ठ) अथवा किसी अन्य बुजुर्ग सम्बन्धी के सामने बिना परदे के नहीं जाती है।

टायलर का मानना है कि मातृसत्तात्मक परिवारों में दामाद के पूर्णतया अपरिचित होने और परिवार के अधीन होने से सास के साथ प्रतिबन्धित सम्बन्ध निभाने के लिए बाध्य होने के कारण परिहार प्रथा की उत्पत्ति हुई। रेडक्लिफ ब्राउन इसको नकारते हुए कहते हैं कि व्यक्तियों के सम्पर्क में आने पर वे या तो परस्पर सहयोग करते हैं या परस्पर संघर्ष करते हैं चूंकि नातेदारों में संघर्ष को सामाजिक आदर्शो के विरूद्ध माना जाता है जिसे रोकने के लिए परिहार प्रथा का विकास हुआ।

2. परिहास– परिहास प्रथा परिहार प्रथा के एकदम विपरीत है, जहाँ परिहार प्रथा कुछ नातेदारों के बीच अंतःक्रिया को टालती है और उन्हें एक– दूसरे से दूर ले जाती है वहीं परिहास प्रथा नातेदारों को एक दूसरे के नजदीक लाती है और मानती है कि कुछ नातेदारों के बीच घनिष्ठता तथा हँसी–मजाक अपेक्षित है। देवर–भाभी, जीजा–साला–साली के बीच हँसी–मजाक करने की प्रथाएँ और व्यवहार प्रणाली कई समाजों में प्रचलित है। परस्पर गाली देना, खिल्ली उड़ाना, मजाक करने के माध्यम से विभिन्न अवसरों पर इन सम्बन्धों की अभिव्यक्ति होती है।

रेडक्लिफ ब्राउन ने परिहास सम्बन्धों को स्वजनों के बीच मैत्रीपूर्ण व्यवहार का प्रतीक माना जिसका प्रदर्शन शत्रुतापूर्ण व्यवहार से भी किया जाता है।

3. अनुनामिता (माध्यमिक सम्बोधन)– जब दो नातेदारों के बीच नाम से पुकारना वर्जित हो और सम्बोधन के लिए किसी माध्यम का उपयोग किया जाता है तो यह व्यवहार अनुनामिता की रीति में आता है। भारतीय समाज में स्त्री अपने पति को अधिकांशतः नाम लेकर नहीं पुकारती बल्कि अपने लड़के या लड़की के नाम के माध्यम से सम्बोधित करती है।

इस प्रथा के पीछे टायलर ने मातृ–प्रधान परिवार को माना जिसके अन्तर्गत परिवार में दामाद को परिवार के अन्य सदस्यों जैसी प्राथमिकता या महत्व नहीं दिया जाता बल्कि सन्तान का नाम उसके साथ जोड़कर उसके सम्बन्ध को गौण रूप में स्वीकार किया जाता है।

4. मातुलेय– यह सम्बन्ध मातृ–सत्तात्मक समाजों में पाया जाता है। विवाह के बाद दम्पति पति की मॉ के भाई के घर जाकर रहने लगते है, ऐसी स्थिति में अधिकार और नियन्त्रण मामा का रहता है। माँ तथा मामा की स्थिति महत्वपूर्ण होती है तथा पिता की स्थिति गौण होती है। व्यक्ति से यह अपेक्षा की जाती है कि वह अपने पिता से भी अधिक सम्मान अपने मामा का करे, उदाहरण– खासी और टोडा जनजाति।

5. पितृश्वश्रेय– यह सम्बन्ध मातुलेय के ठीक विपरीत है, मातुलय में पति की माँ के भाई को महत्व दिया जाता है जबकि पितृश्वश्रेय में पति की बहन को महत्व दिया जाता है, वहीं अपने भाई के बच्चों का पालन–पोषण, नियन्त्रण और विवाह आदि की जिम्मेदारी सम्हालती है, मेलानेशिया की कुछ जनजातियों तथा भारत की टोडा जनजाति में यह प्रथा पायी जाती है। चैपल तथा कून का विचार है कि पितृश्वश्रेयरीति उन संबंधियों में पारस्परिक सामाजिक अंतःक्रिया को बनाये रखने के लिए जहाँ विवाह के बाद उस अंतःक्रिया के समाप्त अथवा शिथिल हो जाने की संभावना रहती है।

6. सहप्रसविता या सहकष्टी– इस प्रथा का सम्बन्ध प्रसव काल से है, इस प्रथा का प्रचलन भारत में खासी तथा टोडा जनजाति में तथा भारत के बाहर कुछ आदिम जातियों में है। प्रथा के अनुसार बच्चे को जन्म देने वाली स्त्री के पति को भी उन सभी प्रकार के कष्टों की सांकेतिक पुनरावृति करनी होती है जिन कष्टों से प्रसव के दौरान उसकी पत्नी गुजरती है और अनुभव करती है। प्रसवा के पति को भी वही भोजन दिया जाता है जो कि प्रसवा को दिया जाता है। उसे भी उसी कमरे में रखा जाता है जिसमें कि प्रसवा प्रसव के बाद कुछ समय के लिए रखी जाती है। उसे भी उतना ही अस्पृश्य माना जाता है जितना कि बच्चे को जन्म देने वाली को। बच्चे के जन्म के समय होने वाले दर्द से प्रसवा जिस तरह चीखती चिल्लाती है उसके पति को भी उसी तरह चीखना चिल्लाना पड़ता है। प्रसव के बाद जिन नियमों का पालन प्रसवा करती है ठीक उन्हीं नियमों का पालन प्रसवा का पति भी करता है।

मैलिनोवस्की ने इस प्रथा को वैवाहिक जीवन के सम्बन्धों को अधिक मजबूत बनाने वाली तथा पैतृक प्रेम प्राप्त करने वाली एक सामाजिक क्रिया माना है। जबकि कुछ मानवशास्त्रियों ने इसे पति द्वारा पत्नी के प्रति प्रेम प्रकट कराने के साथ–साथ संवेदना व्यक्त कर पत्नी के कष्टों में सहभागिता दिखाने तथा उसके कष्टों को हल्का करने का

प्रयास माना है जबकि कुछ विद्वानों ने माता पिता पर प्रतिबंध लगाकर उनकी जादूटोने से रक्षा का प्रयास माना है।

संश्रय सिद्धान्त और वंशानुक्रम– संश्रय सिद्धान्त के अनुसार शरीर के विभिन्न अंग जिस प्रकार अपना अलग–अलग अस्तित्व बनाये रखने के बावजूद एक दूसरे से अन्तः सम्बन्धित और अन्तः निर्भर होते हैं उसी प्रकार एक जनजाति के विभिन्न गोत्र भी अपनी–अपनी पहचान को बनाये रखते हुए विवाह के माध्यम से जनजाति के अन्य गोत्रों से जुड़ जाते हैं।

वंशानुक्रम से अभिप्राय उन मान्यता प्राप्त सामाजिक सम्बन्धों से है जिन्हें व्यक्ति अपने पूर्वजों के साथ जोडता है और पूर्वज वह है जिसकी सन्तान व्यक्ति अपने आपको मानता है। किसी भी व्यक्ति के वंश को उसके पिता के परिवार के वंश के आधार पर या माता के वंश के आधार पर देखा जाता है। कुछ स्थानों पर माता तथा पिता दोनों के वंशो के आधार गिना जाता है। व्यक्ति के वंश को पिता के वंश के आधार पर देखने से उभयवंशीय माना जाता है। यह बताना कठिन है कि वंशजता के इन तीन नियमों में से पहले कौन से नियम को अपनाया गया लेकिन यह अवश्य कहा जा सकता है कि विशिष्ट सामाजिक सांस्कृतिक स्थितियों के कारण एक विशिष्ट वंशजता को अपनाया जाता है।

राजनैतिक एवं आर्थिक संस्थाएँ

वर्तमान समाज जटिल समाज हैं। जटिल समाजों में सबसे महत्वपूर्ण समस्या सामाजिक नियंत्रण की होती है। सरल समाजों में सामाजिक नियंत्रण अनौपचारिक रूप से ही होता है। परन्तु जटिल समाजों में सामाजिक नियंत्रण के लिए औपचारिक संस्थाओं एवं साधनों का विकास करना अनिवार्य हो जाता हैं। सरल समाजों में 'प्रथा ही राजा' होती है परन्तु जटिल समाजों में प्रथाओं एवं परम्पराओं का महत्व कम हो जाता है एवं सामाजिक नियंत्रण के दृष्टिकोण से वे शिथिल पड़ जाती हैं। अतः जटिल समाजों में ऐसी एजेन्सी या संस्था की आवश्यकता होती हैं जो सम्पूर्ण समाज पर अपनी प्रभुसत्ता सम्पन्न अधिकार रख सके और जो सदस्यों को आज्ञा देकर उसका पालन भी शक्तिपूर्वक करा सके। ऐसी औपचारिक, प्रभुसत्ता सम्पन्न अधिकार वाली एवं शक्तिशाली एजेन्सी राजनैतिक संस्था में निहित हैं। दूसरे शब्दों में यह एजेन्सी राज्य हैं।

मुर्डाक ने लिखा हैं कि मनुष्य के पृथ्वी पर जन्म के पश्चात् के समय के लगभग 90 प्रतिशत भाग में मानव समाज बिना सही रूप की सरकार के रहा हैं। परन्तु नई तकनीकी एवं आर्थिक प्रगति के फलस्वरूप समाज में जटिलता का विकास हुआ एवं समाज को एक ऐसी एजेन्सी को अधिकार सौंपना पड़े जो दक्षतापूर्वक मानव के व्यवहारों पर नियंत्रण कर सके। जनसंख्या की वृद्धि के फलस्वरूप एवं समाज की संरचना में बढ़ती हुई जटिलता के फलस्वरूप अनौपचारिक नियंत्रण के साधनों से सामाजिक नियंत्रण का कार्य उसे सौंप दिया। वर्तमान में समाज सरकार का इतना आदी हो गया हैं कि सरकार के बिना समाज में शान्ति एवं व्यवस्था की कल्पना भी नहीं की जा सकती।

हमारे उपरोक्त वर्णन में दो महत्वपूर्ण राजनैतिक संगठनों या संस्थाओं का उल्लेख हुआ हैं– एक राज्य एवं दूसरी सरकार। अब हम इस अध्याय में इन्हीं दो महत्वपूर्ण संस्थाओं के बारे में विस्तार से वर्णन करेंगे।

राज्य

राज्य की धारणा बहुत प्राचीन है। समय–समय पर राज्य के स्वरूपों में भिन्नता रही हैं एवं उन्हीं भिन्नताओं के अनुरूप राज्य का अर्थ लगाया गया। यहाँ हम राज्य की कुछ परिभाषाओं का अध्ययन करेंगे–

1. मेकाइवर–''राज्य एक ऐसी समिति है, जो कानून द्वारा शासनतंत्र से क्रियान्वित होती है और जिसे एक निश्चित भू–भाग में सामाजिक व्यवस्था बनाये रखने के सर्वोच्च अधिकार प्राप्त होते हैं।''

2. अरस्तु–''राज्य परिवारों और ग्रामों के उस समुदाय का नाम है, जिसका उद्देश्य सम्पूर्ण तथा आत्मनिर्भर जीवन की प्राप्ति है।''

3. गार्नर–''राज्य व्यक्तियों का ऐसा समूह है, जो न्यूनाधिक एक निश्चित भू–भाग में रहता है। बाह्य नियंत्रण से लगभग या पूर्णत मुक्त होता है तथा जिसकी एक संगठित सरकार होती है तथा जिसकी आज्ञा का पालन करना निवासियों की स्वाभाविक आदत बन जाती है।''

उपर्युक्त विभिन्न परिभाषाओं से स्पष्ट है कि राज्य ऐसे व्यक्तियों का समूह है, जिनकी एक संगठित सरकार है, जो किसी एक निश्चित भू–भाग में रहते हैं तथा जो विदेशी नियंत्रण से सर्वथा मुक्त रहते हैं। राज्य के अन्तर्गत जाति, धर्म, भाषा अथवा संस्कृति की धारणा प्रमुख रूप से निहित नहीं हैं। राज्य में एक निश्चित भू–भाग एवं अपने सदस्यों पर अधिकार एवं आज्ञा देकर कार्य करा सकने वाली एक सर्वोच्च सत्ता की धारणा निहित है।

राज्य की उत्पत्ति के सिद्धान्त

राज्य की उत्पत्ति के संबंध में विद्वानों में मतभेद हैं, फिर भी इसकी उत्पत्ति संबंधी निम्नलिखित सिद्धान्त महत्वपूर्ण हैं–

1. दैवी उत्पत्ति का सिद्धान्त– जेलिनेक के अनुसार यह राज्य की उत्पत्ति का सबसे प्राचीनतम सिद्धान्त है। धार्मिक ग्रन्थों में भी इस सिद्धान्त का समर्थन मिलता है। इस सिद्धान्त को इंग्लैण्ड के राजा जेम्स प्रथम ने एक निश्चित रूप प्रदान किया। वह अपने आपको निरंकुश राजा बनाना चाहता था। उसका कहना था कि राजा दैवी अधिकार के अनुसार राज्य का संचालन करते हैं। इसका अभिप्राय यह था कि राजा ईश्वर से शक्ति प्राप्त करते हैं और इसी कारण से वह संसार में किसी

के प्रति उत्तरदायी नहीं होते। राजा की आज्ञा का उल्लंघन इतना ही बड़ा पाप था जितना कि भगवान की शक्ति का उल्लंघन। जेम्स प्रथम के अनुसार जनता को दुष्ट राजा के विरोध में कोई अधिकार प्राप्त न था, क्योंकि भगवान ने जनता के पापों के दण्ड के परिणामस्वरूप उस दुष्ट राजा को जनता के ऊपर भेजा है। उसके अनुसार जनता या प्रजा को कोई अधिकार प्राप्त न था।

इस प्रकार इस सिद्धान्त के समर्थकों का विश्वास था कि राज्य भी भगवान द्वारा उसी तरह उत्पन्न किया गया है जिस प्रकार से भगवान ने समस्त विश्व को बनाया हैं। इसलिए राज्य एक दैवी संस्था थी, न कि मानवीय। इस कारण से संस्था में भी कोई परिवर्तन नहीं किया जा सकता था न ही एक राजा के अधिकारों में कोई परिवर्तन हो सकता था। इस सिद्धान्त के अनुसार भगवान प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष रूप से राज्य करता था। प्रत्यक्ष रूप से उस समय का अर्थ लिया जाता है जबकि राजा भगवान माना जाता था। अप्रत्यक्ष रूप से उस समय का अर्थ लिया जाता है, जबकि राजा भगवान का प्रतिनिधि माना जाता था। इस सिद्धान्त के अनुसार चाहे राजा अच्छा हो या बुरा उसकी आज्ञा का पालन अनिवार्य था।

यह सिद्धान्त राज्य के निर्माण एवं विकास में मनुष्य के महत्वपूर्ण योगदान को महत्व नहीं देता। राज्य दैवी नहीं मानवीय संस्था हैं।

2. शक्ति का सिद्धान्त– इस सिद्धान्त के समर्थक राज्य की उत्पत्ति को आक्रमण तथा विजय के द्वारा बताते हैं। शान्ति के द्वारा राज्य की उत्पत्ति का उल्लेख प्राचीन पुस्तकों तथा कथनों में भी मिलता है। इस सिद्धान्त के समर्थकों में विशेष रूप से डेविड ह्यूम, कार्ल मार्क्स, एंजिल आदि उल्लेखनीय हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य शक्ति द्वारा उत्पन्न हुआ हैं। शक्तिशाली व्यक्तियों ने निर्बल व्यक्तियों या कबीलों पर विजय प्राप्त करके उन्हें अपने अधीन बना लिया। इस प्रकार विजयी शक्ति ने इस प्रकार की संस्था को जन्म दिया जो राज्य बन गया। इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य आन्तरिक शान्ति तथा आक्रमणों से रक्षा करने के लिए उत्पन्न हुआ है। इस सिद्धान्त के समर्थक कहते हैं कि आधुनिक काल में भी आर्थिक शक्तिशाली राज्यों की शक्ति निर्बल राज्यों को नष्ट कर देती है। इस संबंध में कोरिया तथा वियतनाम का उदाहरण देते हैं। ब्लंटशली का कहना है कि, ''शक्ति के सिद्धान्त के अनुसार बिना शक्ति के एक राज्य उत्पन्न नहीं हो सकता है, न ही वह स्थायी रह सकता है।'' इस सिद्धान्त का विशेष विचार 'शक्ति सबसे उच्च सत्य है' मालूम पड़ता है। इस सिद्धान्त की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं– (i) राज्य शक्ति पर निर्भर है अर्थात् शक्ति सत्य है। (ii) प्रथम राजा बड़ा युद्ध करने वाला तथा विजयी था। (iii) राज्य का पहला कार्य युद्ध करना है। (iv) युद्ध द्वारा राज्य उत्पन्न होता है।

राज्य की उत्पत्ति का यह सिद्धान्त राज्य की उत्पत्ति के केवल एक तत्व को बहुत अधिक महत्व देता है। राज्य के उत्पन्न होने में शक्ति ने सहयोग दिया है किन्तु राज्य की उत्पत्ति केवल एक तत्व द्वारा नहीं हुई।

3. सामाजिक संविदा सिद्धान्त–इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य की उत्पत्ति संविदा के कारण हुई। यह एक प्राचीन सिद्धान्त है। परन्तु 17वीं तथा एक 18वीं शताब्दी में इसको वैज्ञानिक रूप से प्रतिपादित करने का श्रेय इंग्लैण्ड के हाब्स, लॉक और फ्रान्स के रूसो को है। परन्तु विचारकों में संविदा, सम्प्रभुता तथा प्राकृतिक दशा के विषय पर मतभेद हैं। इस समझौते के विचारक मानवीय समाज के इतिहास को दो भागों में विभाजित करते हैं। प्रथम भाग को जो कि राज्य के निर्माण के पहले था, उसे 'प्राकृतिक अवस्था कहते हैं तथा दूसरा भाग राज्य निर्माण के बाद का है।

राज्य की उत्पत्ति संबंधी इस सिद्धान्त का अध्ययन करने के लिए क्रमशः इन्हीं तीन विचारकों हाब्स, लॉक, रूसो के सामाजिक समझौते संबंधी विचारों का अध्ययन निम्न तीन शीर्षकों के अन्तर्गत करेंगे– (i) प्राकृतिक अवस्था (ii) संविदा या समझौते का स्वरूप (iii) संप्रभुता।

हाब्स के विचार–

(i) प्राकृतिक अवस्था– हाब्स के अनुसार, इस अवस्था में सदैव युद्ध की स्थिति बनी रहती थी। मनुष्य स्वार्थी था, जिसके परिणामस्वरूप प्रत्येक मनुष्य प्रत्येक का दुश्मन था। मनुष्य का जीवन एकाकी, दरिद्र, गन्दा और अल्प था। विधि, शान्ति तथा सुरक्षा का अभाव था। हाब्स का विचार था कि इस प्रकार की स्थिति से मुक्ति पाने के लिए तथा शान्ति, सुरक्षा एवं सुव्यवस्था की प्राप्ति के लिए व्यक्तियों ने समझौता किया।

(ii) समझौते का स्वरूप– हाब्स के मतानुसार यह समझौता व्यक्तियों तथा संप्रभु के मध्य न होकर केवल व्यक्तियों के मध्य ही हुआ था। इसमें व्यक्तियों ने अपने समस्त अधिकार संप्रभु को सौंप दिए। सम्प्रभु या शासक इस समझौते से अलग था।

जान लॉक के विचार–

(i) प्राकृतिक अवस्था–प्राकृतिक अवस्था–लॉक के अनुसार, व्यक्ति स्वभाव से ही शान्तिप्रिय होता है परन्तु इस अवस्था में तीन कमियाँ थीं– (अ) व्यवस्थिति, निश्चित और प्रतिष्ठित विधान, (ब) एक निश्चित और निष्पक्ष न्यायाधीश (स) सही दण्ड को कार्यान्वित और उनका समर्थन करने की शक्ति।

(ii) समझौते का स्वरूप– इन्हीं उपर्युक्त कमियों को दूर करने के लिए व्यक्तियों ने पारस्परिक समझौता कर राज्य और समाज का निर्माण किया। लॉक दो समझौतों का होना मानते हैं। पहला जनता के बीच जिससे समाज का निर्माण हुआ। जनता ने अपने कुछ अधिकार राज्य को सौंप दिए तथा शासन ने इसके बदले जनता तथा शान्ति, सुव्यवस्था व न्याय रखेगा। जनता शासक को हटा भी सकती थी। इस प्रकार यह

समझौता सीमित तथा विशेष प्रयोजन से था।

(iii) संप्रभुता– लॉक यह मानते हैं कि समाज सर्वोच्च या संप्रभु हैं जो दूसरे समझौते के द्वारा व्यक्तियों के जीवन, स्वतन्त्रता तथा सम्पत्ति की रक्षा के उद्देश्य से अपनी शक्तियाँ सरकार को सौंपता है। यदि सरकार ठीक प्रकार से कार्य न करे तो व्यक्तियों को सरकार को हटाने तथा उसका विरोध करने का अधिकार है। इस प्रकार सरकार की शक्ति निरंकुश नहीं वरन् सीमित है।

रूसो के विचार–

(i) प्राकृतिक अवस्था–रूसो प्राकृतिक अवस्था को आनन्दमयी मानता हैं। मनुष्य एक भद्र बर्बर था। यह अवस्था असामाजिक नहीं वरन् अराजनीतिक थी। व्यक्तिगत सम्पत्ति का अभाव था। धीरे–धीरे सभ्यता के उदय के साथ–साथ कला एवं विज्ञान का विकास हुआ। निजी सम्पत्ति, विवाह तथा श्रम–विभाजन के कारण समस्याएँ जटिल होती चली गई। अतः राज्य की आवश्यकता प्रतीत होने लगी। इस प्रकार मनुष्य की असमानताओं के कारण ही राज्य अनिवार्य हुआ।

(ii) समझौते का स्वरूप– रूसो, एक समझौता होना स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार यह समझौता नागरिकों के वैयक्तिक स्वरूप तथा सामूहिक स्वरूप के बीच हुआ। इस सामूहिक समाज द्वारा ही शासन का निर्माण हुआ।

(iii) संप्रभुता– रूसो के अनुसार व्यक्तियों ने संविदा या समझौते द्वारा अपने अधिकार सामूहिक सत्ता को सौंप दिए। इसी सामूहिक सत्ता या समाज ने शासन को अधिकार या शक्तियाँ प्रदान की। यह सिद्धान्त इतिहास सम्मत नहीं हैं। इतिहास में इस प्रकार के समझौते का कोई उल्लेख नहीं मिलता है।

4. पितृसत्तात्मक सिद्धान्त– हैनरीमेन के अनुसार यह वह सिद्धान्त हैं जो समाज का आरंभ ऐसे प्रथम परिवारों से मानता हैं जो सबसे अधिक आयु वाले पुरुष के वंशज के नियंत्रण व छत्रछाया में एक साथ रहते हैं। परिवारों से कबीले और कबीलों से उपजातियों तथा अन्त में राज्य का निर्माण हुआ। पिता या सबसे अधिक आयु वाले पुरुष की श्रेष्ठता को सबने स्वीकार किया। अतः परिवार की वृद्धि के साथ–साथ पिता की शक्तियों में भी वृद्धि हुई। बाद में वह राजा बन गया। पिता की आज्ञा पालन से ही वे राजा की आज्ञा मानने लगे।

कुछ विद्धानों ने इस सिद्धान्त की आलोचना भी की है। जैक्स का विचार हैं प्रारम्भिक सामाजिक संगठन की इकाई परिवार नहीं, अपितु कबीले थे। मैकलेनन ने पैतृक परिवारों के पूर्व मातृमूलक परिवारों के अस्तित्व को स्वीकार किया हैं।

5. मातृसत्तात्मक सिद्धान्त– इस सिद्धान्त के अनुसार भी परिवार ही प्रारम्भिक सामाजिक इकाई हैं। प्रारम्भिक परिवार पितृसत्तात्मक न होकर मातृ–सत्तात्मक थे। परिवार में पिता के स्थान पर माता का स्थान सर्वोच्च होता हैं। स्त्री के माध्यम से संबंध स्थापित होते थे। सम्पत्ति तथा बच्चों पर माता का अधिकार होता था। माता राज्य करती थी।

इस सिद्धान्त की आलोचना इन आधारों पर की जाती हैं– प्रथम, परिवार दोनों प्रकार के होते हैं अर्थात् मातृसत्तात्मक और पितृसत्तात्मक। दूसरे, यह सिद्धान्त संप्रभु तथा माता की शक्तियों में भेद नहीं कर पाता।

6.ऐतिहासिक या विकासवादी सिद्धान्त–लौकॉक का मत है कि राज्य का जन्म धीरे–धीरे मानव जाति के इतिहास की उस प्रक्रिया से हुआ जिसका कुछ अंश भूतकाल में छिपा हैं और कुछ हमें विदित हैं। राज्य का निर्माण बहुत से तत्वों के कारण एक लंबे समय में हुआ हैं। गार्नर ने लिखा है, ''राज्य न तो ईश्वर की कृति हैं, न महान बलप्रयोग का प्रतिफल है, न व्यक्तियों द्वारा किसी प्रस्ताव या समझौते द्वारा निर्मित और न केवल मात्र परिवार का विस्तृत रूप है, बल्कि राज्य ऐतिहासिक विकास की प्रक्रिया द्वारा नैसर्गिक विकास से उत्पन्न संस्था है।'' राज्य के विकासवादी सिद्धान्त का यह अर्थ हैं कि ''राज्य निर्मित नहीं अपितु विकसित हैं।'' यह किसी निश्चित समय में एक यंत्र की तरह नहीं बनाया गया, अपितु मानव जीवन के दीर्घकालीन इतिहास के प्रारम्भ में आज यह नैसर्गिक विधि से विकसित होता आया हैं।

बर्गेस के अनुसार, ''इस प्रस्थापना का कि राज्य इतिहास की उपज हैं, अर्थ यह है कि राज्य मानव समाज का क्रमिक तथा निरन्तर विकास है, जो अत्यन्त पूर्ण आरम्भिक अवस्था से मानवता के एक पूर्ण तथा सार्वभौम संगठन के रूप में विकसित हुआ है।'' इस दीर्घकालीन विकासक्रम में राज्य की उत्पत्ति में अनेक तथ्यों ने योगदान किया। समाज तथा राज्य के निर्माण में मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति का सबसे महान योगदान है।

सिसरो का कहना है कि ''राज्य की उत्पत्ति मनुष्य की सामाजिकता की प्रवृत्ति के फलस्वरूप हुई।'' अतः स्पष्ट हैं कि राज्य का निर्माण बहुत से तत्वों के कारण एक लंबे समय से हुआ हैं। जिन तत्वों का राज्य के निर्माण में महत्वपूर्ण हाथ रहा हैं वे इस प्रकार हैं–(i) सामाजिकता की भावना (ii) रक्त संबंध (iii) शक्ति (iv) धर्म (v) राजनैतिक जागरूकता।

राज्य के आवश्यक तत्व

स्पष्ट हैं कि एक राज्य के आवश्यक तत्व निम्नलिखित हैं–

1. निश्चित भू–भाग– प्रत्येक राज्य की अपनी सीमाएँ निश्चित रहती हैं। इन्हीं सीमाओं से घिरा हुआ भू–प्रदेश राज्य का निश्चित भू–भाग होगा।

2. जनसंख्या– एक निश्चित भू–भाग पर रहने वाले निवासी किसी भी राज्य की दूसरा आवश्यक अंग हैं। यह राज्य की जनसंख्या कहलाती हैं।

3. सरकार– एक राज्य का तीसरा आवश्यक अंग हैं,

सरकार। एक संगठित सरकार राज्य के कार्यों का संचालन करती हैं।

4. प्रभुसत्ता– यह राज्य का अत्यन्त आवश्यक अंग हैं। राज्य वही हैं, जो प्रभुसत्ता सम्पन्न हैं। 1947 के पहले भारत का निश्चित भू–भाग था, जनसंख्या थी, सरकार भी थी। परन्तु प्रभुसत्ता नहीं थी। अतः वह वास्तव में राज्य नहीं था। स्वतंत्रता के बाद पूर्ण प्रभुसत्ता प्राप्त होने से भारत एक राज्य बन गया।

उपरोक्त चारों ही तत्व राज्य के लिये आवश्यक हैं। किसी एक की भी कमी से किसी राज्य का निर्माण नहीं हो सकता। बिना जनसंख्या के राज्य संभव नहीं–फिर जनसंख्या के लिये निश्चित भू–भाग आवश्यक हैं, जिस पर जनसंख्या रह सके, फिर उनकी एक संगठित–प्रभुसत्ता सम्पन्न सरकार भी होना चाहिए।

एक आधुनिक राज्य के कार्य

वर्तमान में राज्य के कार्यों की संख्या बढ़ती जा रही हैं। सामान्यतः जो कार्य राज्य के ऐच्छिक कार्य समझे जाते हैं वे ही कार्य एक आधुनिक राज्य के अनिवार्य कार्य बनते जा रहे हैं। राज्य न केवल बाहरी आक्रमणों से रक्षा व आंतरिक शान्ति व व्यवस्था करने के लिये उत्तरदायी हैं बल्कि यदि राज्य के निवासी भूखे हैं, अशिक्षित हैं, तो एक आधुनिक राज्य आँख मूँदकर नहीं बैठ सकता। निवासियों के लिये अन्न, वस्त्र, शिक्षा, सफाई, प्रकाश, दवाई, मकान आदि की व्यवस्था करना भी राज्य के लिये एक आवश्यक कार्य हैं।

एक आधुनिक राज्य के प्रमुख कार्य निम्नलिखित है–

1. बाहरी आक्रमण से देश की रक्षा– राज्य का प्रमुख कार्य यह हैं कि वह इस बात की व्यवस्था करें कि यदि देश पर बाहरी आक्रमण होता हैं तो उसकी प्रभुसत्ता व भू–भाग की रक्षा की जा सके। सेना की उचित व्यवस्था, आवश्यक युद्ध सामग्री आदि की व्यवस्था इस कार्य में आती हैं। प्रत्येक राज्य की सरकार में आज एक प्रतिरक्षा विभाग अलग से होता हैं, उसका एक मंत्री होता हैं। यह विभाग इस कार्य के लिये उत्तरदायी है।

2. आन्तरिक शान्ति और सुरक्षा– राज्य का दूसरा प्रमुख कार्य हैं, देश में आंतरिक शांति की व्यवस्था करना। चोर, डाकुओं, उठाईगीरों से निवासियों की जानमाल की रक्षा करना राज्य का पुनित कर्त्तव्य हैं। पुलिस व न्याय व्यवस्था इसी कार्य के अंग हैं।

3. न्याय–व्यवस्था– राज्य का तीसरा प्रमुख कार्य हैं, उसके निवासियों को समान सामाजिक न्याय की व्यवस्था प्रदान करना। निवासियों में होने वाले पारस्परिक संघर्षों और झगड़ों को न्यायपूर्ण रीति से निपटाना एक आधुनिक राज्य का महत्वपूर्ण कार्य हैं।

4. शिक्षा– निवासियों को शिक्षित बनाने का कार्य भी एक आधुनिक राज्य का अनिवार्य कार्य हैं। जो राज्य इस कार्य में पिछड़ता हैं, वह आलोचना का पात्र बनता हैं। आज राज्य की तरफ से सैकड़ों प्राथमिक, माध्यमिक, उच्चतर व महाविद्यालयों का संचालन होता हैं। विभिन्न उद्योगों, व्यवसायों की व्यावहारिक शिक्षा का प्रबंध भी एक आधुनिक राज्य करता हैं।

5. स्वास्थ्य और सफाई– निवासियों के स्वास्थ्य की व्यवस्था में भी राज्य महत्वपूर्ण कार्य करता हैं। गाँव–गाँव में अस्पतालों, चिकित्सकों, नर्सों आदि की व्यवस्था, औषधि वितरण, छूत की बीमारियों की रोकथाम के लिये टीके लगवाना, मेडिकल कालेजों में शिक्षा प्रदान करना, नर्सों की ट्रेनिंग की व्यवस्था करना आदि विभिन्न कार्य एक आधुनिक राज्य करता हैं। सड़कों, शौचालयों आदि की सफाई, सड़कों पर प्रकाश की व्यवस्था भी राज्य करता हैं।

6. यातायात और सन्देशवाहन की व्यवस्था–जनता को सन्देशवाहन या यातायात की सुविधा राज्य प्रदान करता हैं। यातायात के साधनों जैसे शहर में बस की व्यवस्था, एक स्थान से दूसरे स्थान पर आने–जाने व माल ढोने के लिये परिवहन की व्यवस्था, रेलवे, जहाज, वायुयान आदि की सेवाएँ राज्य प्रदान करता हैं। सन्देशवाहन के साधनों पर भी राज्य का नियंत्रण रहता हैं : डाक, तार, टेलिफोन आदि की व्यवस्था राज्य करता हैं।

7. व्यापार उद्योगों को प्रोत्साहन– राज्य अपनी नीतियों द्वारा व्यापार एवं उद्योग–धन्धों को प्रोत्साहित करता हैं। उन्हें आर्थिक व अन्य प्रकार की सहायता पहुँचाता हैं। जरूरत पड़ने पर उन्हें संरक्षण भी प्रदान करता हैं।

8. स्वयं की व्यापार व उद्योगों में भाग लेना– राज्य न केवल व्यापार व उद्योग–धन्धों को प्रोत्साहित करता हैं, वरन् स्वयं भी व्यापार व व्यवसाय के क्षेत्र में उतरता हैं। भारत में आज मूलभूत उद्योगों जैसे–प्रतिरक्षा, लोहा, रेलवे, आदि पर राज्य का अधिकार हैं। इसी प्रकार अनाज का व्यापार भी राज्य धीरे–धीरे अपने हाथों में लेता जा रहा हैं।

9. कृषि की उन्नति– राज्य कृषि की उन्नति के विभिन्न साधनों को जुटाता हैं। कृषकों के लिए उत्तम बीज, खाद व सिंचाई के साधनों की व्यवस्था राज्य करता है। राज्य यह देखता हैं कि उसके निवासियों को उचित मात्रा में अन्न मिलता रहे।

10. बेकारी व गरीबी निवारण– राज्य की तरफ से यह भरसक प्रयत्न रहता हैं कि कोई भी व्यक्ति बेकार नहीं रहे। बेकारों की राज्य प्रतिवर्ष गणना करवाता हैं तथा लाखों की विभिन्न उद्योगों में रोजगार दफ्तरों के माध्यम से रोजगार दिलाने की व्यवस्था करता हैं। गरीबी निवारण के लिए देश की समृद्धि आवश्यक हैं। अतः विभिन्न योजनाओं से देश को समृद्ध बनाने का प्रयत्न करता हैं।

11. सामजिक सुधार– एक आधुनिक राज्य अपनी जनता में फैली हुई विभिन्न सामाजिक कुरीतियों को भी दूर

करता हैं। विभिन्न सामाजिक विधानों के माध्यम से जनता को इन बुराइयों में फँसने से रोकता हैं।

12. सामाजिक शिक्षा– एक आधुनिक राज्य न केवल विधान बनाकर अपने कार्य की इतिश्री समझता है। वरन् जनता को विभिन्न प्रचार के माध्यमों से शिक्षित करने का प्रयत्न करता हैं। परिवार नियोजन आदि की शिक्षा जनता को प्रचार के माध्यमों से देने का प्रयत्न करता हैं। इसी प्रकार सामाजिक बुराइयों को दूर करने के लिये भी राज्य उनके विरूद्ध प्रचार कर जनता को शिक्षित करता हैं।

13. वैदेशिक संबंध– एक आधुनिक राज्य की सफलता की यह सबसे प्रमुख पहचान हैं कि उसके विदेशों से, अपने पड़ौसियों से किस प्रकार के संबंध हैं। राज्य अपने पड़ौसी देशों व अन्य विदेशों में अपने राजदूत नियुक्त करता हैं तथा कूटनीतिक तरीकों से विदेशों से अच्छे संबंध बनाये रखता हैं।

14. मुद्रा प्रबंध– आज का युग मुद्रा विनिमय का युग हैं। प्रत्येक वस्तु मुद्रा से खरीदी जाती हैं। व्यापार व्यवसाय मुद्रा से होता हैं। अतः राज्य नोट व सिक्के छापकर समाज में मुद्रा–प्रचलन का कार्य भी करता हैं। मुद्रा–प्रचलन की नीतियाँ राज्य को समाज हित का ध्यान रखकर बड़ी सावधानी से बनाना पड़ती हैं। राज्य न केवल देशी वरन् विदेशी मुद्रा की व्यवस्था भी करता हैं।

15. नागरिकों के मौलिक अधिकारों की रक्षा– अपने नागरिकों के मौलिक अधिकारों की रक्षा करना एक आधुनिक राज्य का परम कर्त्तव्य हैं। नागरिकों की जान–माल की रक्षा, विभिन्न क्षेत्रों में उनकी स्वतंत्रता व समानता की रक्षा करना राज्य का एक प्रमुख कार्य हैं।

16. सामाजिक सुरक्षा– बेकारी, बीमारी, दुर्घटना, वृद्धावस्था आदि के विरूद्ध राज्य अपने नागरिकों को सुरक्षा प्रदान करता हैं। सामाजिक सुरक्षा की विभिन्न योजनाएँ लागू कर राज्य यह कार्य करता हैं। भारतवर्ष में अभी केवल श्रमिकों तक ही सामाजिक सुरक्षा की योजना लागू की जा सकी हैं।

इस प्रकार एक आधुनिक राज्य वे सब कार्य करता हैं जो जनहित व जन–कल्याण के लिये आवश्यक है।

राजनैतिक संस्थाओं का सामाजिक नियंत्रण में महत्व

हम इस अध्याय के प्रारंभ में ही स्पष्ट कर चुके हैं कि सामाजिक नियंत्रण में राजनैतिक संस्थाओं का महत्व बहुत अधिक हैं विशेषकर आधुनिक जटिल समाजों में। नियंत्रण चाहे राजनैतिक संस्था द्वारा किये जाए या अन्य किसी माध्यम से, यह तभी सफल हो पाता हैं जब उसमें निम्नलिखित तत्व सम्मिलित हों–

1. अधिकार
2. आज्ञा देने की क्षमता
3. आज्ञा पालन करवाने की क्षमता
4. भय या दण्ड देने की क्षमता

1. अधिकार– किसी भी साधन से सामाजिक नियंत्रण तभी किया जा सकता हैं जबकि उसमें अधिकारिता के तत्व निहित हों। बिना अधिकार के कोई भी साधन सफल नहीं हो सकता। अधिकारिता सामाजिक मान्यता एवं स्वीकृति से प्राप्त होती हैं। दूसरे शब्दों में नियंत्रण करने में वही साधन या एजेन्सी सफल हो सकती हैं जिसे समाज से स्वीकृति एवं मान्यता प्राप्त हो।

2. आज्ञा देने की क्षमता– वही साधन सामाजिक नियंत्रण में सफल हो सकता हैं जिसमें सदस्यों को आज्ञा देने की क्षमता हो। आज्ञा देने की क्षमता का प्रत्यक्ष संबंध अधिकार से है। यदि अधिकार है तो आज्ञा देने की क्षमता भी स्वतः ही आ जावेगी।

3. आज्ञा पालन करवाने की क्षमता– आज्ञा देने की क्षमता का प्रत्यक्ष संबंध आज्ञा पालन करवाने की क्षमता से है। आज्ञा पालन करवाने की क्षमता भी समाज से स्वीकृति प्राप्त मान्य अधिकारों से मिलती है अतः आज्ञा पालन करवाने की क्षमता का भी प्रत्यक्ष संबंध 'अधिकार' से है।

4. भय या दण्ड देने की क्षमता– अधिकार, आज्ञा देने एवं पालन करवाने की क्षमता के साथ–साथ नियंत्रण के साधन की सहयोगी कोई ऐसी एजेन्सी भी होना चाहिये जो आज्ञा का उल्लघंन करने पर दण्ड दे सके। उदाहरण के लिए जाति प्रथा के अन्तर्विवाही नियम का उल्लघंन करने पर जाति पंचायत द्वारा दण्ड की व्यवस्था। दण्ड देने की क्षमता आज्ञा पालन करने वालों में भय की भावना उत्पन्न करती है और इसी भय की भावना से वे नियमों का पालन करते हैं व अपने–अपने कर्तव्यों को ठीक ढंग से पूरा करते हैं।

इस प्रकार ये चारों तत्व एक दूसरे से संबंधित एवं एक दूसरे पर निर्भर हैं।

राज्य में ये चारों तत्व, अन्य किसी भी साधन से, अधिक गहनता से निहित हैं। राज्य को समाज द्वारा अधिकार प्रदत्त किये जाते हैं, जिससे उसमें आज्ञा देने एवं पालन करवाने की क्षमता स्वतः ही आ जाती हैं। दण्ड देने की क्षमता भी राज्य से अधिक और किसी संस्था या साधन में नहीं हैं। यही कारण है कि वर्तमान में, अन्य किसी भी संस्था से अधिक, लोग राज्य से डरते हैं। अतः वर्तमान में राज्य के कार्यों को पूर्ण करने वाली सरकार सामाजिक नियंत्रण का सबसे शक्तिशाली साधन हैं।

आर्थिक संस्थाएँ

अन्य सामाजिक संस्थाओं के समान ही आर्थिक संस्थाएँ भी मानव की आवश्यकताओं की पूर्ति के साधन हैं। आर्थिक संस्थाएँ मनुष्य की आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति करती हैं। आर्थिक संस्थाएँ उतनी ही प्राचीन हैं जितना कि मानव समाज। अपनी भौतिक आवश्यकताओं को पूर्ण करने की प्रक्रिया में मनुष्य ने आर्थिक संस्थाओं का विकास किया। वर्तमान में हमारी संस्कृति का एक बड़ा भाग आर्थिक संस्थाओं से निर्मित

हैं।

आगबर्न एवं निमकाफ ने आर्थिक संस्थाओं की परिभाषा करते हुए लिखा है

''भोजन और सम्पत्ति के संबंध में मनुष्य की क्रियाएँ आर्थिक संस्थाओं का निर्माण करती हैं।''

किंग्सले डेविस ने आर्थिक संस्थाओं का अर्थ स्पष्ट करते हुए लिखा है–''किसी भी समाज में चाहे, सभ्य समाज हो या आदिवासी समाज, सीमित वस्तुओं के वितरण को नियंत्रित करने वाले मूलभूत विचार, आदर्श नियम एवं स्थितियाँ ही उस समाज की आर्थिक संस्थाएँ हैं।''

मजूमदार एवं मदन के शब्दों में आर्थिक संस्थाओं से तात्पर्य ''मानवीय संबंधों एवं मानवीय प्रयत्नों से युक्त यह एक ऐसी व्यवस्था हैं, जिससे हम हमारे रोजमर्रा के जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति कम से कम प्रयत्नों से करते हैं। यह हमारा संगठित रूप से सीमित साधनों के असीमित आवश्यकताओं की पूर्ति का प्रयत्न हैं।''

इस प्रकार स्पष्ट है कि किसी भी समाज की आर्थिक व्यवस्था में उत्पादन, वितरण, विनिमय एवं उपभोग की प्रणाली सन्निहित हैं। बिल्स एवं हाइजर ने इसी बात को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि आर्थिक व्यवस्था व्यवहारों का ऐसा प्रतिमान हैं जिसके परिणामस्वरूप एक ऐसे संगठन का जन्म होता है जिसका संबंध सेवाओं तथा वस्तुओं के उत्पादन, वितरण तथा उपभोग से हैं। रेमन्ड फर्थ के अनुसार आर्थिक संगठन सामाजिक क्रिया का एक प्रकार हैं। बोन ने आर्थिक संस्थाओं का संबंध हमारे जीवन के अस्तित्व से जोड़ते हुए लिखा है कि अर्थ व्यवस्था व्यवहार का वह सम्पूर्ण संगठन हैं, जो मनुष्य के भौतिक अस्तित्व की समस्याओं से संबंधित हैं। पिडिंगटन के शब्दों में आर्थिक प्रणाली लोगों की भौतिक आवश्यकताओं की सन्तुष्टि के लिये उत्पादन की व्यवस्था, वितरण पर नियंत्रण तथा समुदाय में स्वामित्व के आधारों तथा दावों को निर्धारित करती हैं।

इस प्रकार संक्षेप में आर्थिक संस्थाएँ मानव की भौतिक आवश्यकताओं को पूर्ण करने में सहायक होने वाली संस्थाएँ हैं। भौतिक आवश्यकताओं को पूर्ण करने हेतु ही इन संस्थाओं का विकास होता हैं।

प्रमुख आर्थिक संस्थाएँ

वर्तमान में मानव समाज में प्रमुख रूप से निम्नलिखित आर्थिक संस्थाएँ विद्यमान हैं–

1. वैयक्तिक सम्पत्ति या निजी सम्पत्ति– यह प्रमुख रूप से पूँजीवादी आर्थिक व्यवस्था की संस्था हैं। समाजवादी अर्थव्यवस्था में सम्पत्ति पर जनता का अर्थात् सरकार का अधिकार रहता हैं। वहाँ सम्पत्ति पर निजी अधिकारों को मान्यता नहीं दी जाती। परन्तु पूँजीवादी आर्थिक व्यवस्था में सम्पत्ति पर निजी अर्थात् व्यक्तिगत अधिकारों को मान्यता दी जाती हैं।

2. बड़े–बड़े उद्योग व धन्धे– आज का युग मशीन का युग हैं। इसमें कुटीर उद्योग धन्धों का महत्व कम हो गया हैं तथा बढ़ती हुई आवश्यकताओं की पूर्ति एवं बढ़ती हुई माँग की पूर्ति के हेतु विशाल पैमाने पर उत्पादन होता हैं। वर्तमान युग में वास्तव में इस विशाल पैमाने के उत्पादन को कोई अकेला व्यक्ति नहीं कर सकता। न ही इसे लघु उधोग धन्धों के माध्यम से किया जा सकता हैं। अतः बड़े–बड़े उद्योग धन्धे वर्तमान समाज की महत्वपूर्ण आर्थिक संस्था बन गई हैं। ये पूँजीवादी व समाजवादी सभी देशों में समान रूप से पाई जाती हैं। अन्तर केवल इतना हैं कि पूँजीवादी आर्थिक व्यवस्था में इन पर अधिकार निजी व्यक्तियों का रहता हैं। जबकि समाजवादी देशों में अधिकार राज्य का रहता हैं।

3. द्रव्य व साख– आज के युग की तीसरी आर्थिक संस्था हैं द्रव्य व साख। प्राचीन अविकसित समाज की वस्तु विनिमय की प्रथा अब नहीं रही। अब सारा विनिमय, व्यापार धन्धे द्रव्य के माध्यम से होते हैं। द्रव्य आज की आर्थिक व्यवस्था की रीढ़ की हड्डी हैं। द्रव्य के साथ–साथ साख भी एक महत्वपूर्ण आर्थिक संस्था हैं। आज लाखों करोड़ों रूपयों का व्यापार–व्यवसाय साख पर होता हैं। द्रव्य और साख की व्यवस्थापक संस्था हैं बैंक। सारे समाज में बैंकों का जाल बिछा हुआ है।

4. वृहद् आर्थिक समितियाँ या निगम एवं प्रमण्डल– इतने विशाल पैमाने पर उत्पादन करने के लिए वृहद् पूँजी की आवश्यकता होती हैं। इतनी पूँजी एकत्रित करने की सामर्थ्य अकेले व्यक्ति में नहीं होती। अतः आर्थिक समितियों, वित्त निगमों या प्रमण्डलों का निर्माण करके पूँजी प्राप्त करने का प्रयत्न किया जाता हैं। समाजवादी अर्थव्यवस्था में सब पर राज्य का अधिकार रहता हैं। अतः राज्य ही पूँजी की व्यवस्था करता है।

5. मजदूरी प्रणाली– इतने विशाल कल कारखाने चलाने के लिए मजदूरों की आवश्यकता होती हैं। इन मजदूरों को मजदूरी देने की प्रणालियाँ दो प्रकार की होती हैं– (1) जितना काम उतना दाम के सिद्धांत पर आधारित प्रणाली तथा (2) समय के आधार पर (समय पर आधारित मजदूरी) प्रणाली। सुविधानुसार उपरोक्त में से कोई भी एक प्रणाली अपनाई जाती हैं।

6. मजदूर संघ एवं मिल मालिक संघ– माँग और पूर्ति के आधार पर मिल मालिकों व मजदूरी व अन्य काम करने की दशाओं के बारे में एक संघर्ष–सा चलता है। मजदूर अधिक मजदूरी की माँग करता हैं। जबकि मिल मालिक कम मजदूरी देना चाहता हैं। कई बार मजदूरों की अनुचित माँगों के कारण मिल मालिक परेशानी में पड़ जाता हैं। अतः दोनों ने संगठित रूप से अपनी बात को रखने के लिए अपने–अपने यूनियनों का निर्माण किया। मिल मालिक और मजदूरों के सहयोग पर ही आज की उत्पादन क्रिया निर्भर करती हैं।

7. सहयोग– आर्थिक क्षेत्र में सहयोग भी अपना स्थान बनाता जा रहा हैं। व्यापारी व पूँजीपति परस्पर सहयोग कर बड़ी मात्रा में पूँजी एकत्रित करके बड़े–बड़े कल कारखानों की स्थापना करते हैं। मिल मालिकों व मजदूरों में सहयोग अनिवार्य हैं। समाजवादी देशों में भी सरकार व मजदूरों के बीच सहयोग अपेक्षित हैं।

8. प्रतियोगिता– प्रतियोगिता तो आर्थिक जगत की मुख्य संस्था कही जा सकती हैं। माल के उत्पादकों के बीच प्रतियोगिता, माल के विक्रेताओं एवं खरीददारों के बीच प्रतियोगिता, विक्रेताओं के बीच प्रतियोगिता, खरीददारों के बीच प्रतियोगिता–सबके बीच में प्रतियोगिता पाई जाती हैं। आर्थिक जगत की प्रतियोगिता तो गलाकाट प्रतियोगिता के नाम से प्रसिद्ध है। समाजवादी देशों में जहाँ उत्पादन व विक्रय पर राज्य का एकाधिकार रहता हैं वहाँ प्रतियोगिता नहीं पाई जाती हैं।

9. एकाधिकार– पूँजीवादी अर्थव्यवस्था की यह भी एक प्रमुख संस्था हैं। पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में कोई निजी व्यक्ति, संस्था या नियम किसी विशिष्ट वस्तुओं के उत्पादन पर अपना एकाधिकार स्थापित करके मनचाहे भाव उस वस्तु के निश्चित करते हैं। इसलिए समाजवादी देशों में एकाधिकार समाप्त करने का प्रयत्न किया जाता हैं। परन्तु इन देशों में भी राज्य का एकाधिकार स्थापित हो जाता हैं।

10. सहकारी समितियाँ– मध्यस्थों व दलालों से बचने के लिये उपभोक्तागण मिलकर सहकारी समितियों का निर्माण कर लेते हैं। ये समितियाँ उचित दामों पर उपभोक्ताओं को माल तो बेचती हैं साथ ही साथ इससे उत्पन्न लाभ का भी सदस्य उपभोक्ताओं में बँटवारा होता हैं।

11. ठेका– कई कार्य ठेके के माध्यम से भी किये जाते हैं। बड़े–बड़े पुलों, सड़कों, भवनों आदि का निर्माण ठेके से होता हैं। माल की बड़ी मात्रा में आपूर्ति ठेके से होती है। टेण्डर आमंत्रित किये जाते हैं व विभिन्न टेण्डरों में से उचित टेण्डर भेजने वाले को ठेका दिया जाता हैं। ठेके के कार्यों में बेईमानी व भ्रष्टाचार की रोकथाम के लिए सरकार ने कानूनों का निर्माण भी किया।

12. वितरण प्रणाली– आज वितरण प्रणाली भी एक महत्वपूर्ण संस्था हो गई हैं। यदि प्रत्येक मनुष्य अपनी–अपनी आवश्यकता की सभी वस्तुएँ पैदा कर लेता तो वितरण का प्रश्न ही नहीं उठता। पर चूँकि उत्पादन बड़ी मात्रा में एक स्थान पर होता हैं। अतः उसके वितरण की समस्या भी एक जटिल समस्या है।

13. श्रम विभाजन– आज प्रत्येक कार्य श्रम विभाजन के आधार पर होता है। सबके अपने–अपने अलग–अलग कार्य बँटे हुए हैं और इस प्रकार एक कार्य कई अलग–अलग इकाइयों में होता है।

14. श्रम का विशिष्टीकरण–आज का युग विशिष्टीकरण का युग है। प्रत्येक कार्य के विशेषज्ञ होते हैं। फिर एक व्यक्ति एक ही कार्य करते–करते उसमें दक्ष हो जाता है–उसमें विशिष्टता प्राप्त कर लेता हैं। यही नहीं बाजारों का भी विशिष्टीकरण होता हैं–कपड़े के लिए कपड़ा बाजार, सब्जी के लिए सब्जीमण्डी, अनाज के लिए अनाज का बाजार आदि–आदि।

15. बाजार व विनिमय– बाजार एवं विनिमय प्रणाली आज की प्रमुख आर्थिक संस्था हैं। बाजार ही वह स्थान हैं जहाँ से वस्तुओं का क्रय–विक्रय होता हैं, पैसों का लेन–देन होता है, वस्तुओं के भाव निश्चित होते हैं। क्रय–विक्रय का केन्द्र बाजार है। क्रय–विक्रय मुद्रा विनिमय के माध्यम से होता हैं। एक समय था जब वस्तु का वस्तु से विनिमय होता था। परन्तु अब वस्तु विनिमय का स्थान मुद्रा विनिमय ने ले लिया हैं।

इस प्रकार उपर्युक्त विभिन्न आर्थिक संस्थाएँ हमारे समाज में वर्तमान में पाई जाती हैं। पूँजीवादी अर्थव्यवस्था से उत्पन्न बुराइयों को कम करने के लिए राज्य का हस्तक्षेप दिन–प्रतिदिन बढ़ता जा रहा हैं। सरकार स्वयं उद्योग धन्धों पर न केवल नियंत्रण करती हैं, पर स्वयं कई उद्योग धन्धों का संचालन भी करती हैं।

आर्थिक संस्थाओं का विकास

आर्थिक संस्थाओं का विकास समाज के उद्विकास की विभिन्न अवस्थाओं के सन्दर्भ में देखा जा सकता हैं–

1. भोजन इकट्ठा करने एवं शिकार करने की अवस्था– इस अवस्था में मनुष्य एक स्थान से दूसरे स्थान पर भोजन एवं शिकार की खोज में भटकता फिरता था। वह किसी एक स्थान पर टिक कर नहीं रहता था। इस अवस्था में निजी सम्पत्ति की भावना का प्रादुर्भाव नहीं हुआ था। सुदृढ़ पारिवारिक इकाई की स्थापना नहीं हुई थी। इस समय तक व्यवसाय या व्यापार की प्रक्रिया से मानव अनभिज्ञ था।

2. पशुपालन अवस्था– यह अवस्था मानव की सभ्यता के विकास की द्वितीय अवस्था कही जाती हैं। इस अवस्था में मानव ने पशुओं को पालना आरंभ कर दिया था। पशुओं के रूप में निजी सम्पत्ति की भावना का विकास होने लगा। अभी भी मानव एक स्थान पर नहीं रहता था। अपने पशुओं के लिये चरागाह की खोज में वह पशुओं के साथ ही एक स्थान से दूसरे स्थान पर भटकता फिरता था। उत्पादन (पशुओं का दूध आदि) अभी भी उपयोग के लिये ही होता था।

3. कृषि युग– मानव की सभ्यता के विकास की तीसरी संस्था कृषि युग की अवस्था थी। इस अवस्था में मानव ने अपने पशुओं की सहायता से कृषि करना सीख लिया था। इस समय निजी सम्पत्ति की भावना का प्रादुर्भाव हुआ। जमीन एवं पशुओं पर अपना अधिकार एवं उन्हें अपनी सम्पत्ति मानने की भावना का जन्म हुआ। अब मानवीय निवास में स्थायित्व

आया। संयुक्त एवं विस्तृत परिवारों की स्थापना हुई। स्त्रियों एवं बच्चों को भी पुरुषों ने अपनी सम्पत्ति मानना प्रारंभ कर दिया। इसके उपरांत जमींदारी, जागीरदारी प्रथा या सामन्तवाद का जन्म हुआ। प्रारंभ में वस्तु विनिमय प्रारंभ हुआ व बाद में मुद्रा का आविष्कार हुआ तब मुद्रा विनिमय प्रारंभ हुआ।

4. औद्योगिक युग– नई तकनीकी एवं विज्ञान की सहायता से मानव ने नये–नये यंत्रों का आविष्कार किया। इन यंत्रों की सहायता से मानव ने उत्पादन की समस्त प्रणाली को परिवर्तित कर दिया। बड़े–बड़े विशाल कारखानों में विशाल पैमाने पर उत्पादन प्रारंभ हुआ। वितरण एवं विनिमय की प्रणालियों में परिवर्तन हो गया। पूँजीवादी, समाजवाद आदि वादों का जन्म हुआ। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार होने लगा। विश्व की परिधि सीमित हो गई। एक विवाह की प्रथा सुदृढ़ हो गई। परिवारों का प्रतिमान बदलने लगा। एकाकी परिवार विकसित हो गये। वृहद् प्रमण्डल एवं निगमों की स्थापना हुई। नगरों का विकास हुआ। श्रम का विशेषीकरण हो गया।

इस प्रकार इन विभिन्न अवस्थाओं में आर्थिक संस्थाओं का विकास हुआ। जैसा कि हम देख चुके हैं। आर्थिक संस्थाएँ समग्र संस्कृति की एक इकाई हैं, स्वाभाविक ही हैं कि इनके विकास ने समाज में व्यापक प्रभाव डाले।

आर्थिक संस्थाओं के विकास के सामाजिक प्रभाव

आर्थिक संस्थाओं के विकास के प्रमुख सामाजिक प्रभाव निम्नलिखित हैं–

1. औद्योगीकरण–अर्थव्यवस्था कृषि प्रधान से उद्योग प्रधान बनने लगे। यंत्रीकरण का विस्तार हुआ। कृषि का भी औद्योगीकरण होने लगा। अकृषि व्यवसाय एवं उद्योगों की स्थापना हुई। विशाल कारखानों की स्थापना हुई एवं विशाल पैमाने पर उत्पादन होने लगा। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का जन्म हुआ।

2. नगरीकरण–औद्योगीकरण के साथ–साथ नगरों का विकास हुआ। ग्रामों से लोग नगरों में आने लगे। नगरीय जीवन एवं रहन–सहन का विकास हुआ।

3. नये–नये वर्गों का निर्माण एवं वर्ग संघर्ष– अमीर, मध्यम एवं गरीब वर्गों में समाज विभाजित हुआ। मालिक एवं मजदूरों के नये वर्गों का जन्म हुआ। वर्गों में हितों के आधार पर परस्पर संघर्ष होने लगा।

4. कई सामाजिक समस्याओं का जन्म–बेकारी, गन्दी बस्तियाँ, अपराध, बाल अपराध आदि कई सामाजिक समस्याओं का जन्म इन आर्थिक संस्थाओं के विकास के कारण हुआ।

5. सामाजिक संस्थाओं में परिवर्तन–परिवारों के स्वरूपों, पति–पत्नी के संबंधों, विवाह के आधारों, परिवार के कार्यों, संस्तरण की व्यवस्थाओं एवं प्रणालियों में समय–समय पर आर्थिक संस्थाओं के विकास के साथ–साथ परिवर्तन होते रहते हैं। भारत में ही संयुक्त परिवारों का स्थान एकाकी परिवार ले रहे हैं। विवाह के आधार में परिवर्तन हो रहा हैं। जाति–प्रथा के बंधन शिथिल होते जा रहे हैं। इस प्रकार अन्य सामाजिक संस्थाओं पर भी आर्थिक संस्थाओं के विकास का प्रभाव पड़ता हैं।

6. सामाजिक विघटन– आर्थिक संस्थाओं के विकास का सबसे महत्वपूर्ण प्रभाव समाज पर यह पड़ा है कि सामाजिक विघटन, आधुनिक जटिल समाजों का अनिवार्य लक्षण बन गया हैं।

7. नये वादों का जन्म– पूँजीवाद का जन्म एवं विकास हुआ। पूँजीवाद के फलस्वरूप वर्ग संघर्ष में वृद्धि हुई व समाजवाद एवं साम्यवाद विकसित हुआ। इस प्रकार इन वादों में विश्व बँट गया। एक समाज समाजवादी है तो दूसरा पूँजीवादी व तीसरा अपने आपको साम्यवादी कहता है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि आर्थिक संस्थाओं के विकास के व्यापक सामाजिक प्रभाव हुए हैं।

धर्म एवं शिक्षा सामाजिक संस्था के रूप में

प्राचीन काल से भारतीय सामाजिक व्यवस्था को बनाये रखने एवं नियंत्रण करने में इसकी मौलिक संस्थाओं में धर्म, शिक्षा एवं कानून का विभिन्न रूपों में महत्वपूर्ण योगदान रहा है।

धर्म की अवधारणा– प्राचीनतम सभ्यता और संस्कृति के प्रतीक भारतीय समाज की मौलिक संस्थाओं में धर्म संस्कृति के नियामक आधारों में सबसे व्यापक, सबसे संगठित एवं सबसे प्रभावशाली है। धर्म की व्यवस्था मानव समाज में प्रारम्भ से ही रहस्य, भय एवं नियमितता का स्त्रोत रही है। आदि मानव ने जब प्रकृति के भयंकर स्वरूपों जैसे– बिजली, तूफान, आग आदि के सामने अपने को असहाय पाया तो उसने इन्हें ही अलौकिक सत्ता के रूप में देखा। धर्म की उत्पत्ति, ऐसा प्रतीत होता है कि मानव के डर, अज्ञानता एवं असहायता से हुई। सबसे ज्यादा भयावह, आश्चर्यजनक और रहस्यमय स्वयं प्रकृति थी इसलिये प्रकृति को ही अलौकिक सत्ता का प्रतिरूप मान लिया गया। लगभग सभी धर्मों के आरम्भिक स्वरूप अथवा जनजातीय धर्म, प्रकृति की शक्तियों की पूजा से जुड़े है। काल और देश के साथ इसके स्वरूप, संगठन एवं प्रकृति में फर्क जरूर हुआ है। परन्तु मजबूत अथवा कमजोर अवस्था में यह मौजूद सभी जगहों में रहा है। भारत में अनेकानेक धर्मों का उदभव, प्रसार और प्रभाव रहा है जिन्होंने भारतीय समाज के प्रत्येक क्षेत्र–दर्शन, साहित्य, कला, प्रशासन, राजनीति व आर्थिकी के साथ–साथ भारतीय समाज की व्यवस्था एवं प्रतिमान, कानून एवं शिक्षा को सक्रिय रूप से प्रभावित एवं परिवर्तित किया है। वास्तव में भारतीय परम्परागत समाज और धर्म में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। जो परस्पर एक दूसरे को प्रभावित करते रहे हैं। अतः भारत के विभिन्न धर्मों के अध्ययन

के बिना भारतीय समाज को समझना संभव नहीं है।

धर्म का अर्थ एवं परिभाषा– बुके के अनुसार धर्म के लिये उपर्युक्त अंग्रेजी शब्द रिलिजन (Religion) की उत्पत्ति लैटिन शब्द 'रीलिजिओ' से हुई है। जिसका अर्थ है साथ–साथ मानना या पालन करना। संस्कृत भाषा के 'धृ' शब्द का अर्थ है धारण करना अर्थात सात्विक गुणों को धारण करना धर्म है। धर्म शब्द का प्रयोग वेद, उपनिषद एवं धर्म ग्रन्थों आदि में प्रचुरता से लिया गया है। वेदों में ऋत के अर्थ में धर्म का प्रयोग हुआ है। ऋत ऐसा मूर्त सिद्धांत हैं जो लोकों में समुचित व्यवस्था बनाये रखता है।

समाजशास्त्री जॉनसन ने धर्म की एक कार्यात्मक और सुसंगत परिभाषा दी है– ''धर्म, अलौकिक वस्तुओं, सत्ता, शक्ति, अथवा अन्य अलौकिक तत्वों से जुड़े विश्वासों एवं व्यवहारों की एक अन्तर्सम्बन्धित व्यवस्था है। यह ऐसी व्यवस्था है जिससे उस धर्म को मानने वालों के व्यवहार एवं हित जुड़े रहते हैं। यह सम्बन्ध ऐसा है जिसे धर्म के मानने वाले अपने, सार्वजनिक और निजी जीवन में गम्भीरता से स्वीकार करते हैं।'' जॉनसन के अनुसार धर्म का सबसे महत्वपूर्ण तत्व अलौकिक वस्तु, शक्ति अथवा सत्ता में विश्वास है।

1. प्रसिद्ध सामाजिक विचारक कार्ल मार्क्स, इमाइल दुर्खीम, मैक्स वेबर आदि ने धर्म को एक सामाजिक उत्पादन कहा है।
2. फ्रांसीसी समाजशास्त्री इमाइल दुर्खीम ने धर्म को सामाजिक रूप से स्वीकृत, पवित्र वस्तुओं से सम्बन्धित विश्वासों एवं व्यवहारों की संगठित व्यवस्था कहा है। दुर्खीम के अनुसार ईश्वर मानव की सबसे सुन्दर कृति है। धर्म की आदिम एवं मध्य युगीन समाज में सामाजिक एकता कायम करने में प्रमुख भूमिका थी। आधुनिक समाज में यह काम स्वयं समाज अपनी विशेष संरचना (सावयवी एकता) के कारण कर लेता है। धार्मिक विश्वासों के कारण ही जो समाज द्वारा प्रेरित है, एक ही वस्तु को एक समाज में पवित्र एवं दूसरे समाज में सामान्य कहा जाता है।
3. कार्ल मार्क्स के अनुसार धर्म, समाज निर्मित एक भावनात्मक एवं शक्तिशाली व्यवस्था है जो सामान्य जनता के लिये अफीम का काम करता है।
4. मेक्सवेबर ने धर्म को भावनात्मक क्रिया पर आधारित कहा है। उसके अनुसार पूर्व औद्यागिक समाजों में इसकी महत्वपूर्ण भूमिका थी। आधुनिक विवेकपूर्ण समाज में विवेक की शक्तियों ने धर्म का महत्व कम कर दिया है।
5. टायलर के अनुसार धर्म सर्वशक्तिमान, अलौकिक सत्ता एवं उसके प्रतीक में विश्वास है। क्रिस्टोफर डाउसन के अनुसार धर्म में मनुष्य के भक्तभाव को सबसे अधिक महत्वपूर्ण माना गया है। मानवशास्त्री रैडक्लिफ ब्राउन एवं मैलिनोवस्की ने धर्म को क्रियाओं का एक तरीका और विश्वासों की एक व्यवस्था माना है जो सामाजिक घटना के साथ ही एक व्यक्तिगत अनुभव भी है।

जेम्स फ्रेजर कहते हैं कि ''धर्म को मैं मानव से सर्वोपरि उन शक्तियों की संतुष्टि या आराधना समझता हूँ जिनके सम्बन्ध में यह विश्वास किया जाता है कि मानव जीवन को मार्ग दिखाती और नियंत्रित करती है।'' मिल्टन सिंगर ने धर्म को परिभाषित करते हुए लिखा है कि ''धर्म वह व्यवस्थित प्रयास है जिससे हम जीवन की अन्तिम आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकें।''

पी. हॉनिगशीम के अनुसार ''प्रत्येक उस मनोवृति को धर्म कहेंगे जो इस विश्वास पर आधारित है कि अलौकिक शक्तियों का अस्तित्व है तथा उनसे सम्बन्ध स्थापित करना न केवल महत्वपूर्ण है वरन् सम्भव भी है।''

हॉबल के अनुसार ''धर्म अलौकिक शक्ति में विश्वास पर आधारित है जिसमें आत्मावाद और मानावाद दोनों सम्मिलित हैं।''

विभिन्न हिन्दू धर्म ग्रन्थों में ''धर्म'' शब्द का प्रयोग भिन्न अर्थ में किया गया है। धर्म का अर्थ कर्त्तव्य से भी लिया गया है जैसे राजा के कर्त्तव्य राजधर्म, पुत्र के कर्त्तव्य पुत्र धर्म आदि हैं। कई बार वस्तुओं के आंतरिक गुण, स्वभाव आदि को दर्शाने के लिए भी धर्म शब्द का प्रयोग किया जाता है। राधाकृष्णन के अनुसार ''जिन सिद्धान्तों का हमें अपने दैनिक जीवन में और सामाजिक सम्बन्धों में पालन करना है, वे उस व्यवस्था द्वारा नियत किये गये है जिसे धर्म कहा जाता है। यह सत्य का जीवन में मूर्त्त रूप है और हमारी प्रकृति को नये रूप में ढालने की शक्ति है।'' धर्मशास्त्री पी.पी. काणे ने लिखा है, ''धर्मशास्त्रों के लेखकों ने धर्म का अर्थ एक मत या विश्वास नहीं माना है अपितु उसे जीवन के एक ऐसे तरीके या आचरण की एक ऐसी संहिता माना है, जो व्यक्ति के समाज के रूप में और व्यक्ति के रूप में कार्य एवं क्रियाओं को नियमित करता है और जो व्यक्ति के क्रमिक विकास की दृष्टि से किया गया है और जो उसे मानव अस्तित्व के उद्देश्य तक पहुँचाने में सहायता करता है।''

स्वामी विवेकानन्द ने लिखा है कि ''धर्म वह है जो मानव को इस संसार और परलोक में आनन्द की खोज के लिए प्रेरित करे। धर्म कार्य पर प्रस्थापित है। धर्म मानव को रात–दिन इस आनन्द को प्राप्त करने के लिए प्रयत्न कराता है।''

उपर्युक्त अनेक विद्वानों की परिभाषाओं के आधार पर संक्षेप में कहा जा सकता है कि धर्म एक सामाजिक संस्था है जिसका आधार अलौकिक तथा दैवीय शक्तियों और मानव के साथ उसके सम्बन्धों से है। धर्म किसी न किसी प्रकार की अतिमानवीय या अलौकिक शक्ति पर विश्वास है जिसका आधार भय, श्रद्धा, भक्ति और पवित्रता की धारणा है और

जिसकी अभिव्यक्ति प्रार्थना, पूजा, आराधना व कर्मकाण्डों आदि के रूप में की जाती है।

धर्म के मौलिक लक्षण (विशेषताएँ)

1. अलौकिक सत्ता, वस्तु, व्यक्ति एवं शक्ति में विश्वास– धर्म में ऐसी शक्ति में विश्वास किया जाता है जो अलौकिक और दिव्य चरित्र की है, जो मानव से श्रेष्ठ है, यही शक्ति प्रकृति तथा मानव जीवन को निर्देशित, नियंत्रित एवं संचालित करती है। अलग–अलग धर्मों में अलौकिक शक्ति की अलग–अलग कल्पनाएँ है। महत्वपूर्ण तथ्य यह नहीं है कि अलौकिक शक्ति का वास्तविक अस्तित्व है या नहीं है, महत्वपूर्ण यह है कि सभी समाजों में बड़ी संख्या में लोग ऐसा विश्वास करते हैं।

2. धार्मिक व्यवहार के स्वरूप– वे कार्य जो मुख्य रूप से अलौकिक सत्ता में विश्वास को बनाये रखने के लिए किये जाते हैं इन्हें कर्मकाण्ड कहा जाता है। कर्मकाण्डों के अंशो को अनुष्ठान कहते हैं। धार्मिक व्यवहार का यह पक्ष सामाजिक होता है। धर्म की व्यवस्था व्यवहार के इन पक्षों को धार्मिक ही कहता है। उदाहरण के लिये गरीबों को दान देना, कमजोर की मदद करना आदि। इससे भिन्न पूजा–पाठ, नमाज, चर्च में प्रार्थना है जो कर्मकाण्ड (Rituals) के उदाहरण हैं।

3. पवित्रता की धारणा– दुर्खीम ने धर्म में पवित्रता पर बल देते हुए लिखा है कि धर्म पवित्र वस्तुओं से सम्बन्धित विश्वासों और आचरणों की समग्र व्यवस्था है जो इस पर विश्वास करने वालों को एक नैतिक समुदाय में संयुक्त करती है। धर्म से सम्बन्धित सभी वस्तुओं को पवित्र माना जाता है।

4. संवेगात्मक भावनाओं से सम्बंध– धर्म में संवेगात्मक भावना प्रधान होती है, तर्क प्रधान नहीं। धर्म में तर्क के लिये कोई स्थान नहीं होता है। अपना हित कराने के लिये व्यक्ति अलौकिक शक्ति के प्रति श्रद्धा, भक्ति, भय, प्रेम आदि के रूप में अभिव्यक्ति करता है।

5. अनुज्ञा और निषेध– प्रत्येक धर्म में कुछ कर्मों को करने के लिये कहा जाता है जिन्हें अनुज्ञा कहते हैं। जैसे दान देना। निषेधों द्वारा कुछ कार्यों को करने से मना किया जाता है जैसे– झूठ नहीं बोलना चाहिए, दुराचार, व्यभिचार, बेईमानी आदि नहीं करनी चाहिए। ये निषेध और अनुज्ञा धार्मिक विश्वास से सीधे जुड़े नहीं होते हैं।

6. शुद्ध रूप से सामाजिक एवं सांस्कृतिक होना– प्रत्येक धर्म में सामान्यतया आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक जीवन के सम्बन्ध में नियम और मान्यताएँ तय किये जाते हैं। ये नियम और मान्यताएँ धर्म में ईश्वरीय आदेश एवं अनुज्ञाओं के रूप में प्रस्तुत किये जाते हैं। मैलिनोवस्की ने जनजातीय समाजों का उदाहरण देते हुए कहा है कि मछली पकड़ने वाले समुदाय नावों, मछलियों, समुद्र आदि की पूजा करते हैं। इसी प्रकार से हिन्दू धर्म, ईसाई धर्म व इस्लाम धर्म आदि में उत्तराधिकार, परिवार, विवाह आदि के नियमों को ईश्वरीय नियमों की तरह ही माना जाता था और उनका पालन किया जाता था। औद्योगिक युग से पहले धर्म ही समाज एवं संस्कृति के नियामक पक्षों का सबसे बड़ा आधार था।

7. विशेष धार्मिक सामग्री और प्रतीक–धार्मिक क्रियाओं में अलग–अलग धर्म में अलग–अलग धार्मिक सामग्रियों, धार्मिक प्रतीकों और जादू–टोनों, पौराणिक कथाओं आदि का समावेश होता है। जैसे– हिन्दू धर्म में हवन पूजा–आरती, केले, पीपल आदि की पूजा व गंगा जल और तीर्थ–स्थानों का विशेष महत्व है तो ईसाई धर्म में बाइबिल, क्रास, मोमबत्ती आदि का।

8. धार्मिक संस्तरण–सामान्यतः प्रत्येक धर्म से सम्बंधित संस्तरण की एक व्यवस्था पायी जाती है। जिन लोगों को धार्मिक क्रियाएँ अथवा कर्मकाण्ड कराने का समाज द्वारा विशेष अधिकार प्राप्त होता है, उन्हें अन्य लोगों की तुलना में संस्कारात्मक दृष्टि से उच्च समझा जाता है। ऐसे लोगों में पण्डे, पुजारी, महन्त, सन्त, पादरी, मौलवी आदि आते हैं।

9. दार्शनिक पक्ष– प्रत्येक धर्म अपने ढंग से विश्व, समाज एवं समय की व्याख्या करता है। वह मानवीय जीवन के अर्थ एवं परिणाम की व्याख्या करता है। इसी सन्दर्भ में नरक और स्वर्ग अथवा मुक्त आत्मा एवं सुप्त आत्मा की कल्पना करता है। इस दार्शनिक पक्ष के कारण ही एक धर्म के मानने वाले का एक विश्व दृष्टिकोण विकसित होता है। प्रत्येक धर्म एक काल्पनिक व वास्तविक विश्व दृष्टिकोण को जन्म देता है। धर्म अपने सैद्धान्तिक स्वरूप में अपरिवर्तनशील होता है परन्तु व्यावहारिक रूप में प्रत्येक धर्म समय के साथ परिवर्तित होते जाते हैं।

धर्म की उत्पत्ति–

सर्वप्रथम मानवशास्त्री टायलर ने जनजातीय समाज में धर्म को सिद्ध करने के प्रयास में धर्म की उत्पत्ति का सिद्धान्त दिया जिसे आत्मावाद या जीववाद कहा जाता है। टायलर ने कहा कि सभी धर्म एक ही विचार पर आधारित हैं और वह है आत्मा या जीव में विश्वास। आत्मा को आदिम मनुष्यों से लेकर सभ्य मनुष्यों तक के धर्म का आधार माना। टायलर के अनुसार आदि मानव कुछ ऐसे रहस्यों से घिर गया था जिसकी गुत्थी को वह बार–बार सुलझाना चाहता था। इन रहस्यों में सर्वप्रथम थे मृत्यु और निद्रा। इन गुत्थियों को सुलझाने के प्रयास में मानव ने आत्मा की कल्पना की, यह आत्मा अमर है। जब मानव निद्रा अवस्था में होता है, तो उसकी आत्मा निकलकर स्वप्न के माध्यम से पूर्वजों से भेंट करती है और उनके आशीर्वाद प्राप्त करने की चेष्टा करती है। जब आदमी मर जाता है तब यह आत्मा उसके शरीर से स्थायी रूप से निकल जाती है। परन्तु यह समाप्त नहीं होती। ये आत्माएँ विचरती रहती है और इन्हीं के अभिशाप और वरदान से मनुष्य को समाज में दुःख या सुख की प्राप्ति होती है। अनेक आत्माओं

में विश्वास ने बहुदेववाद को जन्म दिया और धीरे–धीरे वह एकदेववाद में विकसित हुआ। यह धारणा बनी कि सारी दुनिया एक ही महान आत्मा या विश्वात्मा द्वारा संचालित होती है। इस आत्मा पर आधारित धर्म आदि मानव की बौद्धिक प्रवृति की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए पैदा हुआ जिससे वह मृत्यु, स्वप्न और अन्य प्रति छवियों की व्याख्या कर सके।

डी.एन. मजूमदार समेत अनेक विद्वानों ने इस सिद्धांत की यह कहकर आलोचना की है कि टायलर ने आदि मानव को अत्यधिक बुद्धिमान बना दिया है। टायलर ने धर्म के प्रारम्भिक स्वरूप को बहु अलौकिक सत्तावादी कहा जबकि एन्ड्रयू लैंग ने आदिम समाजों में एक ईश्वरवादी धारणा की पुष्टि की है।

जर्मन विद्वान एफ. मैक्समूलर ने प्रकृति की शक्तियों के आधार पर धर्म की उत्पत्ति की व्याख्या की है जिसे प्रकृतिवाद कहा जाता है। उसके अनुसार आदि मानव का प्रकृति सम्बन्धी अनुभव भय, आश्चर्य, चमत्कार एवं नवीनताओं से प्रभावित था। उसने कहा कि ज्वालामुखी, बिजली, जंगल की आग, समुद्र की गर्जन से मानव इतना डर गया कि उसने प्रकृति को ही सर्व शक्तिशाली समझा। प्रकृति की शक्ति और विचित्रता से प्रभावित होकर आदि मानव ने मूर्त्त प्रकृति की पूजा, आराधना प्रारम्भ की। आदि–मानव ने प्रकृति का मानवीकरण कर दिया। हवा की शक्ति हवा के दैवत्व में बदल गयी और सूर्य की शक्ति सूर्य के देवत्व में बदल गयी।

मैक्समूलर ने धर्म की उत्पत्ति को मानव की भावनात्मक आवश्यकताओं में तलाशा। उसके अनुसार धर्म का उदय, मानव की भावनाओं पर प्रकृति के प्रभावों के कारण ही हुआ। मार्क्स के विचार में भी धर्म की उत्पत्ति डर और चिन्ता से हुई जो मूलतः प्रकृति के भयंकर स्वरूपों से पैदा हुए थे। मार्क्स ने धर्मों को भिन्न–भिन्न समाज के सिद्धान्त अथवा विचारधाराएँ कहा है। जैम्स फ्रेजर ने धर्म की उत्पत्ति को मानव के वैचारिक प्रयासो में खोजा। उसने अपने उद्विकास वाले परिप्रेक्ष्य में सबसे पहले जादू की कल्पना तथा धर्म की कल्पना की और अन्ततः विज्ञान की व्यवस्था को आधुनिक समाजों का लक्षण कहा। मैक्समूलर ने आत्मावाद से पूर्व जीवित– सत्तावाद का अस्तित्व स्वीकार किया, जिसके अनुसार प्रत्येक वस्तु में चाहे जड़ हो या चेतन, जीवित सत्ता होती है जो कि अलौकिक है, जिसमें विश्वास, आराधना एवं पूजा से धर्म की उत्पत्ति हुई। काउरिंगटन एवं मैरेट ने उसे मानावाद कहा क्योंकि मलेनेशिया के लोग अलौकिक शक्ति को 'माना' के नाम से पुकारते हैं। मलेनेशिया की जनजातियों में यह विश्वास है कि किसी भी कार्य की सफलता या असफलता माना की शक्ति पर निर्भर है। युद्ध में विजय, शिकार में सफलता और मछलियों का अधिक पकड़ा जाना माना की शक्ति के कारण है। भारतीय जनजातियों में भी मजूमदार ने माना जैसी शक्तियों का उल्लेख किया है। हो जनजाति में 'बोगा' की अवधारणा मैरेट के सिद्धान्त के अन्तर्गत आती है।

समाजशास्त्री इमाइल दुर्खीम ने धर्म की उत्पत्ति से सम्बन्धित विभिन्न सिद्धान्तों की आलोचना इस आधार पर की है कि धर्म एक सामाजिक तथ्य है और उसकी उत्पत्ति में सामाजिक कारकों का हाथ रहा है। दुर्खीम के अनुसार धर्म पवित्र वस्तुओं अथवा पक्षों से सम्बन्धित विश्वास की एकताबद्ध व्यवस्था है जिसका आधार सामूहिक चेतना का प्रतीक है। आस्ट्रेलिया की जनजाति अरूण्टा के अध्ययन में उसने कुल चिन्ह या टोटम की पवित्रता को अपवित्रा से दूर रखने के लिए विभिन्न संस्कारों, उत्सवों एवं आचरणों को जन्म दिया गया जिनके पीछे सम्पूर्ण समूह या समाज की स्वीकृति एवं शक्ति है। धार्मिक प्रतिनिधित्व सामूहिक प्रतिनिधित्व की ही अभिव्यक्ति है। समाज का विचार ही धर्म की आत्मा है। धार्मिक शक्तियाँ मानवीय और नैतिक शक्तियाँ ही है।

भारतीय समाज के विभिन्न धर्मो के विश्वास, व्यवहार और प्रभाव

भारत का कोई राज्य धर्म नहीं है। भारत एक धर्मनिरपेक्ष राज्य है। यहाँ सब प्रकार के धर्मों के पालन और विश्वास की स्वतंत्रता है। सन् 2001 की जनगणना के अनुसार भारत के इतिहास में अंतः स्थापित प्रमुख धर्मों में हिन्दू धर्म (81.69 प्रतिशत अर्थात् 79.97 करोड़), इस्लाम धर्म (12.69 प्रतिशत अर्थात् 16.85 करोड़), ईसाई धर्म (2.43 प्रतिशत अर्थात् 2.05 करोड़), सिक्ख धर्म (1.96 प्रतिशत अर्थात् 1 करोड़), बौद्ध धर्म (71प्रतिशत अर्थात् 0.59 करोड़), जैन धर्म (0.48 प्रतिशत अर्थात् 0.45 करोड़), पारसी धर्म एवं अन्य (0.43 प्रतिशत अर्थात् 0.38 करोड़) महत्वपूर्ण है।

हिन्दू धर्म :

हिन्दू धर्म प्राचीनतम धर्म है। यह सामाजिक–सांस्कृतिक एवं व्यवहारों में पवित्रता एवं आध्यात्मिक विश्वासों की एक लम्बी विकास प्रक्रिया का परिणाम है। लोकमान्य तिलक के अनुसार सिन्धु नदी के उद्गम स्थान से लेकर हिन्द महासागर तक सम्पूर्ण भारतभूमि जिसकी मातृभूमि तथा पवित्र भूमि है, वह हिन्दू कहलाता है और उसका धर्म हिन्दू धर्म अथवा हिन्दुत्व है।

सनातनता–यद्यपि हिन्दू धर्म का कोई प्रवर्तक नहीं हुआ किन्तु अनादिकाल से इसका विकास अक्षुण्ण रूप से होता आ रहा है इस कारण इसे सनातन धर्म कहा जाता है। अपनी प्राचीनता के कारण ही अनेकानेक बाह्य तत्वों, युग परिवर्तन, बाह्य आक्रमण और आन्दोलनों के बावजूद अपने मूलरूप से विचलित नहीं हुआ क्योंकि यह सनातन सत्य पर आधारित है।

ईश्वर में विश्वास–सम्पूर्ण दृश्यमान जगत एक अलौकिक शक्ति या एक ईश्वर द्वारा संचालित है जिसका स्वरूप अलग–अलग या बहुईश्वरवादी हो सकता है। ये शक्तियाँ दो प्रकार की होती हैं, एक अच्छे काम करने वाली और दूसरी, बुरे काम करने वाली। जैसे देव एवं दानव जिसे

द्वैत सिद्धान्त कहा जाता है।

आध्यात्मिकता– हिन्दू धर्म ईश्वर के आध्यात्मिक स्वरूप अर्थात् परम सत्ता की सम्पूर्णता पर विश्वास करता है। जो समस्त वस्तुओं की अभिव्यक्ति है। आध्यात्मिक सत्ता के पक्ष–सत् चित् और आनन्द प्राप्ति के लिए व्यक्ति सदैव तत्पर रहते हैं। हिन्दुओं का जीवन–दर्शन आध्यात्मिकता से परिपूर्ण है जिसके अन्तर्गत व्यक्ति की आत्मा, परमात्मा से एकाकार के लिये सतत् प्रयत्नशील होती है।

कर्म का सिद्धान्त–हिन्दू धर्म शुभाशुभ कर्मों के अनिवार्यतः फल भोगने पर विश्वास करता है जो प्रत्येक जन्म में सद्कर्मों को करने की प्रेरणा देता है और बुरे कर्म करने से रोकता है। कर्मो के फल संस्कार रूप में सुरक्षित रहते हैं जो भावी जीवन को संचालित करते हैं।

पुनर्जन्म का सिद्धान्त–अच्छे और बुरे कर्मों के फल भोगने के लिए दूसरा जन्म धारण करना आवश्यक होता है। पुनर्जन्म सिद्धान्त के अनुसार वर्तमान योनि में प्राप्त जन्म पूर्व जन्म के कर्मों के फल है। यह धारणा है कि सत्कर्म करने से इहलोक और परलोक दोनों सुधरते हैं।

मोक्ष का सिद्धान्त–हिन्दू धर्म में ऐसा विश्वास है कि सुख–दुख, जन्म–मृत्यु व भौतिक जगत के चक्र से मुक्त होकर ईश्वरीय पूर्णता प्राप्त करना परम मुक्ति या मोक्ष प्राप्त करना है। धर्म, अर्थ, काम तीनों ही पुरुषार्थ मोक्ष प्राप्ति के लिए है।

ऋत–नियम–वैदिक धर्म में ऋत (नैतिक) को सूर्य, चन्द्र आदि प्राकृतिक शक्तियों का नियन्ता कहा गया है जो ऋत–नियम के आधार पर संचालित होते हैं उसी प्रकार यह जगत एक नैतिक व्यवस्था में आबद्ध है। नैतिक नियम ही धर्म है जो मानव जीवन के लिये सर्वोपरि है।

आश्रम–व्यवस्था–हिन्दू धर्म में व्यक्ति के जीवन को क्रमशः चार आश्रमों– ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास में विभाजित किया गया है। प्रथम दो आश्रम मनुष्य के शारीरिक एवं सामाजिक दायित्वों को और बाद के दोनों आश्रम ईश्वर और मानवता के प्रति उच्चतर दायित्वों को निभाने के लिए है। व्यावहारिक रूप में आश्रम व्यवस्था नैतिक मूल्यों की प्राप्ति का मार्ग प्रशस्त करती है।

विविधता में एकता–हिन्दू धर्म के अन्तर्गत अनेक सम्प्रदाय, विचारधाराएँ एवं रीतिरिवाज पाये जाते हैं जैसे– वेदान्ती, अद्वैतवादी, सांख्य, न्याय, वैशेषिक जो स्वतंत्र रूप से अनुकरणीय है। हिन्दू धर्म की यह विशेषता जनतंत्र और धर्मनिरपेक्ष राज्य का मूल सिद्धान्त है।

मूर्तिपूजा–हिन्दू धर्म की सबसे विचारणीय सामान्य विशेषता है मूर्तिपूजा में विश्वास। मूर्तियों में समरूपता नहीं है बल्कि सम्प्रदाय के अनुसार भिन्न है। प्रत्येक सम्प्रदाय का अपना इष्ट देव होता है (कृष्ण, राम, शिव, गणेश, हनुमान) जो अलग मन्दिर में रखे जाते हैं जिनकी पूजा की जाती है।

अहिंसा– भारतीय दर्शन में अहिंसा को परम धर्म माना है एवं भारत उदबोध सभी मत पंथों, सम्प्रदायों ने इसे एक नीति के तहत स्वीकार किया है।

ऋण तथा यज्ञ–हिन्दू जीवन व्यवस्था में व्यक्ति पर पाँच प्रकार के ऋण माने जाते हैं– देव–ऋण, ऋषि–ऋण, पितृ–ऋण, अतिथि–ऋण तथा भूमि–ऋण। उसी प्रकार व्यक्तिवाद पर अंकुश रखने और जीवन को त्याग के आदर्श में ढालने के लिये पंच महायज्ञों का विधान है।

संस्कार–हिन्दू धर्म में व्यक्ति को संस्कारित करने तथा शारीरिक, मानसिक और नैतिक परिष्कार के लिए सोलह संस्कारों की व्यवस्था की गयी है जिसका उद्देश्य एक विशेष स्थिति और आयु में व्यक्ति को उसके सामाजिक कर्तव्यों का ज्ञान कराना है।

उदारता–उदारता हिन्दू धर्म का सबसे बड़ा विश्वास है। परिस्थितियों से अनुकूलन करने में समर्थ, सहिष्णुता और लचीलेपन की विशेषता के कारण ही यह धर्म प्राचीनतम है। इस धर्म को सहिष्णुता व उदारता का अक्षय कोष कहा जाता है।

कर्मकाण्ड विधि और अनुष्ठान–हिन्दू धार्मिक व्यवहार का सबसे महत्वपूर्ण स्वरूप कर्मकाण्डों का है जो दैवीय सत्ता में विश्वास को बनाये रखने के लिये किये जाते हैं। दैवीय सत्ता के प्रति श्रद्धा के भाव प्रदर्शित करना जिसका तात्कालिक उद्देश्य पवित्र जीवन जीना है परन्तु व्यापक उद्देश्य अपने परलोक को सुधारना है। कुछ पाने की इच्छा विशेष कर्मकाण्ड के मूल अंश अर्थात छोटी–छोटी धार्मिक क्रियाओं को कर्म या विधि कहते हैं जैसे मन्त्र–जाप करना, बेलपत्र चढ़ाना, गंगा में स्नान करना आदि। महत्वपूर्ण धार्मिक कर्मों या सामाजिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये किये गये सार्वजनिक पूजा को अनुष्ठान कहते हैं।

सम्प्रदाय, सेक्ट अथवा पंथ–सम्प्रदाय का अर्थ ऐसे समूह अथवा संगठन से है जो धार्मिक विश्वासों, धार्मिक व्यवहारों के आधार पर एक–दूसरे से अलग होते हैं जैसे वैष्णव और शिव सम्प्रदाय। सेक्ट विश्वासों के आधार पर एक–दूसरे से अलग तो होते ही हैं परन्तु अलगाव का महत्वपूर्ण पक्ष विश्वास न होकर कर्मकाण्ड अथवा अनुष्ठान होते हैं जो पूर्णतया एक दूसरे से भिन्न होते हैं। वर्तमान हिन्दू धर्म में अनेक ऐसे सेक्ट प्रचलित है। पंथ ऐसे धार्मिक समूह को कहते हैं जो अपना ज्यादा ध्यान विशेष धार्मिक गतिविधियों पर लगाता है।

एक पंथ के सदस्य अपने विशिष्ट विश्वासों, मान्यताओं, रीति–रिवाजों, परम्पराओं तथा धार्मिक पुरुषों के साथ अपने सम्बन्धों के आधार पर अपनी अलग एवं विशिष्ट पहचान बना लेते हैं।

संक्षेप में हिन्दू धर्म के व्यक्ति पर प्रभावों को थॉमस ऑडिया के शब्दों में समझा जा सकता है। ऑडिया ने अपनी पुस्तक Sociology of Religion में कहा है कि धर्म व्यक्ति का समूह में एकीकरण करता है, अनिश्चितता की स्थिति में दिशा प्रदान करता है, पवित्रता और आत्मबल में वृद्धि करता है और एक–दूसरे के समीप आने की भावना को प्रोत्साहन देता है। हिन्दू धर्म के व्यक्ति पर प्रभाव के अतिरिक्त समाज और संस्कृति के प्रति योगदानों का भी विश्लेषण किया जा सकता है। हिन्दू धर्म भारतीय समाज और संस्कृति का पथ–प्रदर्शक है जिसने भारतीय समाज के संगठन, सामाजिक एकता, नियमों एवं नैतिकता, सामाजिक नियन्त्रण, परिवर्तन पवित्रता की भावना, व्यक्तियों के चरित्र निर्माण एवं सद्‌गुणों का विकास, कर्तव्य का निर्धारण, भावात्मक सुरक्षा, मनोरंजनात्मक कार्य, संस्कृति एवं समाज की रक्षा आदि पर विस्तृत प्रभाव डाले हैं।

इस्लाम धर्म :

622 ई. में इस्लाम धर्म को उसके संस्थापक पैगम्बर मोहम्मद साहब ने एक व्यवस्थित स्वरूप प्रदान किया जिसके दो प्रमुख ग्रन्थ हैं– कुरान तथा हदीस। कुरान शब्द की व्युत्पत्ति करयान से हुई जिसका अर्थ पाठ करना है जिसमें मोहम्मद साहब को अल्लाह द्वारा दिये गये ज्ञान संग्रहित हैं जिसे जिब्रील नामक देवदूत ने सुनाया था। कुरान में कुल 144 अध्याय हैं जो अल्लाह द्वारा उच्चारित, सार्वभौमिक और शाश्वत सत्य हैं। कुरान में अल्लाह और उसके द्वारा पृथ्वी तथा मानव की रचना, कयामत का दिन, नजात (मुक्ति) सामाजिक कर्तव्य, मानव–कर्त्तव्य, अच्छे–बुरे आचरण एवं दंड आदि पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है जो सभी सत्य सम्पूर्ण मानव जाति के कल्याण के लिये है। हदीस में स्वयं मो. साहब द्वारा दिए गये उपदेशों का संग्रह है।

इस्लाम धर्म एक ही ईश्वर अर्थात् अल्लाह में विश्वास करता है, जो अच्छे अथवा बुरे कार्य, स्वर्ग और नरक का निर्धारण करता है। अल्लाह अपना संदेश पैगम्बर अथवा दूत द्वारा भेजता है। मो. साहब अन्तिम पैगम्बर थे। मो. साहब ने परमात्मा और मनुष्यों के बीच धर्मदूत (रसूल) का कार्य किया था, इसलिये वे रसूल के नाम से भी जाने जाते हैं। इस्लाम धर्म अपने अनुयायियों को पवित्र ग्रन्थ कुरान की आयतों (आदर्शों) में विश्वास करने का आदेश देता है, अवज्ञा करने वालों को काफिर कहा जाता है। कुरान में लिखे आदेशों व निर्देशों को स्वीकार करना, नमाज पढ़ना, जकात देना एवं हज करना प्रत्येक मुसलमान का परम कर्त्तव्य है। इस्लाम धर्म पुनर्जन्म में विश्वास नहीं करता है। इस धर्म की मान्यता है कि कयामत के बाद रोजेशुमार के दिन, खुदा मृत प्रणियों के अच्छे–बुरे कर्मों का हिसाब करेगा तथा स्वर्ग अथवा नर्क देगा। 1206 ई. से 1818 ई. की अवधि में सूफी परम्परा की भारत में इस्लाम धर्म को फैलाने में महत्वपूर्ण भूमिका थी। भारत में मूर्ति पूजा का विरोध, एकेश्वरवाद, अद्वैतवाद, छुआछूत, जाति प्रथा की समाप्ति, समानतावादी आदर्श व सुधारवादी आन्दोलनों का जन्म आदि इस्लाम के ही परिणाम है। हिन्दू और मुस्लिम धर्म विश्वास और व्यवहार में दोनों परस्पर प्रभावित हुए है।

ईसाई धर्म :

ईस्वी के प्रारम्भ में फिलिस्तीन (बेथलेहम) में एक यहूदी स्त्री मरियम ने ईसाई धर्म के संस्थापक ईसामसीह को जन्म दिया जिन्हे देवीय पुत्र माना जाता है। सम्पूर्ण विश्व में अनुमानतः आठ अरब लोग ईसाई धर्म को मानने वाले है। जो यूरोप, अमेरिका और आस्ट्रेलिया में सर्वाधिक है। ईसाई धर्म का पवित्र ग्रन्थ बाइबिल है जिसके दो भाग है– पुरानी बाइबिल और नवीन बाइबिल। पुरानी बाइबिल यहूदी हजरत दाऊद तथा हजरत मूसा द्वरा लिखी गई है। नयी बाइबिल में ईसा के उपदेश है। यहूदी पुरानी बाइबिल को मानते हैं और ईसाई नयी बाइबिल में विश्वास करते हैं। ईसाई धर्म यहूदी धर्म का परिष्कृत व परिमार्जित स्वरूप है। ईसाई धर्म पर प्राचीन यूनानी दर्शन एवं विचारधारा, बुद्धवाद और इस्लाम का प्रभाव है। ईसा ने ईश्वर की दिव्य भक्ति में विश्वास करने, सबके प्रति दया रखने, एकनिष्ठ बने रहने का उपदेश दिया जिन्हे क्रॉस पर लटका कर कीलें ठोक दी गई इसलिए क्रॉस (X) को विशेष पवित्र चिह्न या बलिदान के प्रतीक के रूप में स्वीकार किया गया है। ईसा ने बाइबिल में ईश्वर के आदेशों को बताया जिन्हें पवित्र कानून माना गया है– मैं ही ईश्वर हूँ, ईश्वर की कोई भौतिक छवि नहीं है, ईश्वर अनन्त तथा सम्पूर्ण विश्व का सम्प्रभु शासक है, सम्बन्ध को याद करना, माता–पिता का आदर करना, मनुष्य को ईश्वर और उसके कानून की रक्षा करनी चाहिये, तुम चोरी नहीं करोगे, तुम अपने पड़ौसी के विरोध में झूठी गवाहीं नहीं दोगे, तुम लालच नहीं करोगे। ईसाई धर्म एकेश्वरवाद में विश्वास करता है और मूर्तिपूजा का विरोधी है।

अलौकिक व निराकार एक ईश्वर सम्पूर्ण मानव का पालन–पोषण करता है उन पर दया रखता है, उनके हृदयों को शुद्ध करता है। ईश्वर का रूप एवं शक्ति आत्मा है। वपतिस्मा संस्कार द्वारा व्यक्ति को शुद्ध कर पवित्र आत्मा के निकट

लाया जाता है जो त्रियकवाद (ईश्वर, ईसा एवं पवित्र आत्मा का रूप एक है) में विश्वास करता है। ईसा को ईश्वर तक पहुंचने का माध्यम है। चर्च को ईसा का शरीर कहा जाता है जिसमें पवित्रात्मा निवास करती है। चर्च में विवाह और सदस्यता प्रत्येक ईसाई के लिये अनिवार्य है। ईसाई धर्म में पांच अनुष्ठान माने गये है–बपतिस्मा (ईसाई धर्म स्वीकार कर पवित्र आत्मा के पास लाना) पुटिकरण, आत्मनिवेदन (ईश्वर की शरण में आत्मसमर्पण कर क्षमा–याचना करना) पवित्र संचार (सामूहिक पूजा एवं भोज) विवाह (पवित्र और पारिवारिक जीवन) ईसाई धर्म समानता तथा भाईचारे के सिद्धान्त को स्वीकारता है। सभी मनुष्य परमेश्वर की सन्तान है, मानव कल्याण की भावना, दीन–दुखियों की सेवा ही सच्ची ईश्वर सेवा है। ईसाई धर्म ने भारतीय समाज को अनेक रूपों में प्रभावित किया है। ईसाई मिशनरियों ने अनेक ऐसे कार्य किये है जिससे समाज में समानता की भावना विकसित हुई। भारतीय समाज को ईसाई धर्म ने निम्न जातियों की सामाजिक स्थिति को ऊँचा उठाने, जाति–व्यवस्था को कमजोर करने, छुआछूत की भावना को समाप्त करने, स्त्रियों की स्थिति में सुधार करने, भाग्यवादिता समाप्त करने, आध्यात्मिक से भौतिक जीवन अर्थात् भौतिकता को महत्व देने तथा जीवन के प्रति आशावादी दृष्टिकोण प्रदान करने में सहयोग दिया है।

सिक्ख धर्म :

हिन्दू धर्म की अनेक सामाजिक कुप्रथाओं और बाह्य आडम्बरों के विरोध में सिक्ख खालसा आन्दोलन के तहत गुरुनानक ने सिक्ख मत की स्थापना की जिसका बुनियादी धर्म ग्रन्थ गुरुनानक साहिब है। गुरुनानक (1469–1538) के मत में धार्मिक संन्यासी भक्त व सदस्य सभी समान थे। गुरुनानक ने अपने उपदेशों में हिन्दू–मुस्लिम एकता पर बल, बाह्य आडम्बरों का विरोध, जाति–प्रथा का विरोध, एक सर्वोच्च सत्ता, चरित्र की पवित्रता पर बल, गुरु के महत्व पर विशेष जोर दिया तथा सदैव मानवता का समर्थन किया। सिक्ख शब्द संस्कृत के शिष्य शब्द का पंजाबी भाषा में रूपान्तर है। गुरुनानक के अनुयायियों व शिष्यों को सिक्ख कहा जाता था।

सिक्ख धर्म का भारतीय समाज पर गहरा प्रभाव पड़ा है। गुरुनानक की वाणी ने जनता को उसकी गुलामी, अत्याचार और शोषण के विरूद्ध लोकचेतना पैदा करने का प्रयास किया। सिक्खों के दसवें गुरु–गोविन्द सिंह विलक्षण विद्वान, गम्भीर दार्शनिक, महान साहित्यकार व उच्चकोटि के कवि थे। ब्रजभाषा में लिखी गयी उनकी कृतियाँ हिन्दी साहित्य की महत्वपूर्ण निधि हैं। अत्याचारियों का सफाया करने के उद्देश्य से गुरु ने केश, कंघा, कड़ा, कच्छा तथा कृपाण रखने का आदेश दिया। खालसा दल को नवीन स्वरूप प्रदान किया। उनकी समूची सांस्कृतिक पृष्ठभूमि–विशुद्ध भारतीय है जिसमें शैव, वैष्णव व शाक्य तत्वों का एकीकरण है। सिक्खों के चौथे गुरु रामदास ने अमृतसर की स्थापना की। छठे गुरु हरगोविन्द ने लोहगढ़ का किला बनवाया और अकाल तख्त की स्थापना की। सिक्ख धर्म एक व्यवहारवादी धर्म है जिसने बाह्य आडम्बर, रूढ़ियों, अन्धविश्वासों, कर्मकाण्डों को कम करने, जाति प्रथा की निन्दा और मानवीय एकता पर बल दिया। गुरु गोविन्द सिंह ने सिक्ख धर्म को नया रूप दिया तथा उसे अत्याचार दूर करने का सशक्त माध्यम बनाया।

जैन धर्म :

जैन धर्म की स्थापना और विकास में योग देने वाले विद्वान महात्माओं को तीर्थंकर कहा गया है। छठी शताब्दी ई. पू. महावीर स्वामी के पहले तेईस तीर्थंकर हुए थे। प्रथम तीर्थकर ऋषभदेव थे और तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ थे। महावीर स्वामी के उपदेशों में विश्वास से जिनका व्यावहारिक प्रयोग मनुष्य को कर्म बन्धनों से मुक्ति दिला सकता है। निवृति मार्ग (सांसारिक सुखों को भोगने की अभिलाषा, तृष्णा और सम्पति संचय की जगह संसार को ही त्यागना चाहिए।) कर्म की प्रधानता (पूर्वजन्मों के कर्मों का फल, वासनाओं पर विजय प्राप्त करना ही कर्म–बन्धनों से मुक्ति है।) जीव और अजीव (जीव चैतन्य द्रव्य और अजीव चैतन्य रहित है), पुद्गल से अलग होना ही कर्म बन्धन को तोड़ना है जिसका अर्थ है जन्म–मरण और पुनर्जन्म के चक्र से मुक्त होना अर्थात् निर्वाण (मोक्ष) प्राप्त करना। बन्धन और मुक्ति (जीव और शरीर का संयोग ही बन्धन है) जिन्हें काशाय कहा जाता है। बन्धनों से मुक्ति ही मोक्ष (निर्वाण), जिसका अर्थ जीव के भौतिक अंश का विनाश है, निर्वाण जैन धर्म का परम लक्ष्य है। त्रिरत्न–सम्यक दर्शन–यथार्थ ज्ञान के प्रति सच्ची श्रद्धा रखना, सम्यक ज्ञान–जीव अजीव के मूल तत्वों का विशेष ज्ञान प्राप्त करना, सम्यक दृष्टि– सही काम या आचरण, त्रिरत्नों के माध्यम से आचरण पर विशेष बल दिया गया है। यह सप्तयंगी सिद्धान्त अनेकान्तवाद या स्याद्वाद है। पांच अणुव्रत–(अहिंसा, सत्य,अस्तेय (चोरी न करना), अपरिग्रह (संग्रह करना), ब्रह्मचर्य तथा सात शीलव्रत–दिग्व्रत, देशव्रत, अनर्थ दडव्रत, सामरिक, प्रोशवोपवास, उपभोग–प्रतिभोग परिमाण और अतिथि संविभाग आदि मुख्य हैं। जैन धर्म में जाति भेद तथा लिंग भेद आदि का विरोध किया एवं सामाजिक समानता को स्थापित किया।

स्यादवाद अथवा अनेकांतवादः किसी वस्तु का ज्ञान सात प्रकार से किया जा सकता है– है, नहीं है, है और नहीं

है, कहा नहीं जा सकता है, है किन्तु कहा नहीं जा सकता, नहीं है और कहा नहीं जा सकता, है और नहीं है किन्तु कहा नहीं जा सकता है।

बौद्धधर्म :

छठी शताब्दी ई. पू. भारतीय इतिहास में बौद्ध धर्म के प्रवर्तक महात्मा बुद्ध थे। जिन्होंने सुधारवाद, अनीश्वरवाद, त्याग, वैराग्य व संन्यास आदि पर जोर दिया जिसका प्रभाव चीन, तिब्बत, मंगोलिया, कोरिया, जापान, श्रीलंका, नेपाल में व्यापक है। महात्मा बुद्ध के व्याख्यान धम्मचक्क, पवतनसुत (धर्मचक्र प्रवर्तन) में निहित है। बौद्धधर्म के सिद्धान्त प्रसिद्ध धर्म ग्रन्थ तिपिटक में लिखित है। विनयपिटक में बौद्ध भिक्षुओं के आचार के नियम, सुतपिटक, विनयपिटक, सुपिटक और अविधम्मपिटक में बुद्ध की नैतिक, धार्मिक शिक्षाएँ और अभिधम्मपिटक में उन शिक्षाओं में निहित दार्शनिक सिद्धान्तों का विश्लेषण है। बुद्ध ने चार आर्य सत्यों–दुख, दुख का कारण, दुख निरोध और दुख निरोधमार्ग को बताया जो बौद्ध धर्म की आधारशिला हैं। अष्टांगिक मार्ग–सम्यक दृष्टि, संकल्प वाणी, कर्मान्त, आजीव, व्यायाम, स्मृति एवं सम्यक समाधि, जीवनयापन के बीच का मार्ग है। बुद्ध ने नैतिकता पर जोर दिया और दसशील आवश्यक बताये हैं। मध्यम मार्ग–अहिंसा, सत्य, अस्तेय अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य, नृत्य–गायन, सुंगधित पदार्थों का त्याग, असमायोजन का त्याग, कोमल काया का त्याग और भिक्षुओं के लिये दसों शील का पालन आवश्यक है।

बौद्धधर्म से भारतीय संस्कृति के अनेक क्षेत्र जैसे–धर्म, दर्शन, साहित्य, कला, शासन नीति, आचार–विचार प्रभावित हुए। जनसाधारण की भाषा पाली को अपनाकर संघों और विहारों में प्रवचन देकर, उच्च साहित्य का माध्यम बनाया जिसमें बुद्धचरित्र, सारिपुत प्रकरण, मिलिन्दपन्हो, कथावत्थ, त्रिपिटक प्रसिद्ध हैं। बौद्धधर्म के दार्शनिक सिद्धान्तों में शून्यवाद, प्रतीत्य समुत्पाद, सर्वास्तिवाद व अनित्यवाद आदि प्रमुख दर्शन हैं। बोधिसत्वों की मूर्तियाँ, विहार व चैत्यों का निर्माण, स्तूपों के निर्माण से भारतीय शिल्पकला, मूर्तिकला और चित्रकला पर बौद्ध कला का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। बौद्ध धर्म ने वैदिक कर्मकाण्डों, प्राकृतिक शक्तियों की पूजा व उपासना का खण्डन कर सरल सुबोध और नैतिक आचरण पर बल देने वाले धर्म का विकास किया। बौद्धधर्म ने संघ व्यवस्था का निर्माण कर प्रजातंत्र प्रणाली का विकास किया। विश्वविख्यात नालन्दा और विक्रमशिला शिक्षण संस्था की स्थापना की। बौद्ध भिक्षुओं ने भारतीय संस्कृति का विदेशों में प्रचार–प्रसार किया। भारतीय समाज में सत्य, सेवा, त्याग, अहिंसा, परोपकार, समानता और सहनशीलता की भावना के विकास में बौद्धधर्म का विशेष योगदान है।

धर्म के प्रकार्य या भूमिका– सामान्य रूप से धर्म का प्रकार्य मानसिक तनावों व संघर्षों से मुक्ति दिलाना, सामाजिक मूल्यों व मान्यताओं का संरक्षण करना, नैतिकता को बनाये रखना, सामाजिक एकता में सहायक, विश्वबन्धुत्व की भावना में सहायक, सामाजिक नियंत्रण करना, सुरक्षा की भावना, सद्गुणों के विकास में सहायक और पवित्र–अपवित्र में भेद करना आदि मुख्य है। समाजशास्त्रियों एवं मानवशास्त्रियों ने सामाजिक संरचना के आधार पर धर्म की भूमिका पर विस्तृत प्रकाश डाला है। उद्विकासवादियों के अनुसार धर्म का आरम्भ दैवीय वस्तुओं की पूजा से या प्रकृति की पूजा से हुआ, फिर मानवीय स्वरूपों के दैवी शक्तियों के आधार पर बहुदेववाद का युग आया और अंततः एक सर्वशक्तिमान ईश्वर की कल्पना की गयी। सभी विद्वानों के अनुसार किसान समाज या सामान्ती समाज में धर्म का प्रभाव सबसे अधिक होता है। विश्व के सभी प्रतिष्ठित धर्मों का विकास ऐसे ही समाजों में हुआ। इस काल में धर्म संस्कृति का मुख्य स्त्रोत के साथ सामाजिक सम्बंधों और विश्व दृष्टिकोण, स्त्री–पुरुष का सम्बन्ध, पिता पुत्र का सम्बन्ध, राजा और प्रजा का सम्बन्ध निर्धारण धर्म पर निर्भर करता है। अनेक दैवी शक्तियों में विश्वास के बावजूद एक सर्व शक्तिमान की कल्पना या एकेश्वरवाद का महत्व होता है। धर्म का संगठन होता है और धार्मिक स्थल सुनिश्चित होते हैं। पुजारियों का वर्ग वंशानुक्रम पर आधारित होता है। व्यापक धार्मिक आन्दोलनों के द्वारा समाज व्यवस्था में महत्वपूर्ण और अलौकिक परिवर्तनों की अपेक्षा की जाती है अथवा भविष्यवाणी की जाती है। यह समाज जटिल धार्मिक व्यवहारों अथवा कर्मकाण्डों का समाज होता है। पहले भारतीय समाज में भी इसी प्रकार की विशेषतायें पाई जाती थीं। जी.एन.शास्त्री और भट्टाचार्य ने कहा कि भारतीय समाज मूलतः धर्म और जाति पर संगठित है।

इसके विपरीत औद्योगिक समाज में धर्म की भूमिका के संबंध में गंभीर मतभेद है। मार्क्स ने औद्योगीकरण की चेतना के परिणाम स्वरूप तथा मैक्सवैबर ने तर्कशास्त्र के प्रभाव के कारण धर्म के समाप्त होने या कमजोर पड़ने की बात कही है। दुर्खीम के अनुसार श्रम विभाजन के बढ़ने के साथ धर्म या तो समाप्त होगा या कमजोर हो जायेगा। धार्मिक चिन्तन में सबसे अधिक परिवर्तन हुए हैं, आधुनिक मानव धार्मिक इच्छाओं से कम प्रेरित होता है और वह विश्व को अनुभवजन्य तथा तर्कपूर्ण दृष्टि से देखता है। धर्मनिरपेक्षता की धारणा धर्म की भूमिका को कम करना एवं सार्वजनिक जीवन से इसे हटाने का प्रयास है। इसका मूल उद्देश्य धर्म को राजनीति व सार्वजनिक जीवन

से अलग कर देना है इसलिए इसका एक अर्थ धर्म विहीनता है। विकासशील देशों में धर्म निरपेक्षता का अर्थ धार्मिक सहिष्णुता लगाया जाता है। भारत में धर्मनिरपेक्षता का यही अर्थ है। दूसरे अर्थ में धर्म के प्रभाव में कमी नहीं हुई है बल्कि इसका स्वरूप और स्वभाव बदल गया है धर्म अब एक व्यक्तिगत मामला हो गया है और सामूहिक अर्चन का स्वरूप समाप्त होने लगा है अर्थात् धर्म का निजीकरण हो गया है। आर के. मर्टन ने उन समाजों में जहाँ एक से अधिक धर्म हैं, धर्म की विघटनकारी भूमिका की चर्चा की है। मैक्सवेबर के अनुसार प्रोटेस्टेंट धर्म के उदय होने के कारण ही पूँजीवाद का उदय हुआ है।

अनेक विद्वानों ने धर्म की परिवार, नातेदारी और विवाह सम्बन्धी भूमिका की चर्चा की है। धर्म ने सभी समाजों में चारित्रिक दृढ़ता पर बल दिया, विवाह विच्छेद को प्रभावित किया है, पहले समाज में धर्म द्वारा व्यक्ति की शक्ति और अधिकार तथा परिवार के स्वरूप को निर्धारित किया जाता था। सामान्यतया कई बार किसी देश में धर्म विशेष का प्रभाव अधिक होता है जैसे इजराइल में यहूदी धर्म, नेपाल में हिन्दू धर्म, पाकिस्तान में मुस्लिम धर्म इत्यादि। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से धर्म मानव को मानसिक संतोष प्रदान करता है, तनावों को दूर करता है, मानसिक विचलन से दूर रखता है। उपर्युक्त चर्चा के आधार पर हम यह निश्चित रूप से कह सकते हैं कि औद्योगीकरण और आधुनिकीकरण की प्रक्रियाओं के फलस्वरूप धर्म की मध्ययुगीन शक्ति और भूमिका में बहुत कमी आयी है। आम तौर पर धर्म एक व्यक्ति का निजी मामला हो गया है, धर्म की राजनीति से दूरी हो गयी है और संस्कृति के आधारों से धर्म की दूरी के कारण इसका स्वरूप और चरित्र बदल गये हैं। यह संभव है कि धर्म का बाहरी स्वरूप अभी भी शक्तिशाली है परन्तु धर्म की मूल भावना अर्थात् अलौकिक शक्ति के प्रति भय और विश्वास निश्चित रूप से कमजोर पड़ गये हैं।

महत्वपूर्ण बिंदु

1. विवाह समाज द्वारा मान्यता प्राप्त संस्था है।
2. विवाह परिवार को स्थायित्व प्रदान करता है।
3. विवाह की उत्पति और उसका क्रमिक विकास पाँच अवस्थाओं में हुआ है।
4. हिन्दू विवाह के उद्देश्य थे– धार्मिक कर्त्तव्यों का पालन, एवं संतान प्राप्ति।
5. हिन्दू विवाह एक धार्मिक संस्कार है जिसके विवाह संबंधी कुछ वरीयतायें और निषेध हैं।
6. मुस्लिम विवाह एक सामाजिक समझौता है जिसका उद्देश्य संतानोत्पत्ति तथा उत्पन्न संतान को वैधता प्रदान करना है।
7. परिवार समाज की प्रथम पाठशाला है।
8. परिवार समाजीकरण के अभिकरण के रूप में देखा जाता है।
9. परिवार सर्वाधिक महत्वपूर्ण और प्रमुख आधारभूत सामाजिक समूह है जिसका समाज की संरचना में केन्द्रीय महत्व है।
10. नातेदारी या स्वजनता में सम्मिलित व्यक्तियों का परस्पर संबंध वंशावली के आधार पर होता है। ये तीन प्रकार की होती है रक्त संबंधी, विवाह संबंधी और काल्पनिक।
11. नातेदारी अथवा स्वजनता की रीतियाँ या व्यवहार व्यक्ति को यह बताती हैं कि उसे किस नातेदार से कैसा व्यवहार करना है।
12. दो महत्वपूर्ण राजनैतिक संगठन या संस्था राज्य तथा सरकार हैं।
13. राज्य के आवश्यक तत्व निश्चित भू–भाग, जनसंख्या, सरकार तथा प्रभुसत्ता हैं।
14. राज्य सामाजिक नियंत्रण के साधन के रूप में भी कार्य करता है।
15. साधारण शब्दों में भौतिक वस्तुओं को संपत्ति कहा जाता है।
16. आर्थिक संस्थाएँ समग्र संस्कृति की एक ईकाई हैं।
17. धर्म का शाब्दिक अर्थ सात्विक गुणों को धारण करना या पालन करना है।
18. धर्म की उत्पति आदिमानव द्वारा प्रकृति के भयंकर स्वरूप में विश्वास, डर, अज्ञानता एवं असहायता से हुई है।
19. धर्म के भौतिक लक्षण हैं– अलौकिक सत्ता, वस्तु, व्यक्ति और शक्ति में विश्वास, धार्मिक व्यवहार के स्वरूप पवित्रता की धारणा, अनुज्ञा और निषेध संवेगात्मक भावनाओं से संबंध एवं विशेष धार्मिक सामग्री और प्रतीक।
20. टायलर ने कहा कि सभी धर्म एक ही विचार पर आधारित हैं और यह है आत्मा या जीव में विश्वास जिसे आत्मावाद या जीववाद कहा जाता है।
21. शिक्षा सीखने, आत्मसात करने और उसके अनुरूप व्यवहार की प्रक्रियाओं से संबंधित है।
22. एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी की परम्परा, संस्कृति, कौशल और ज्ञान को औपचारिक या अनौपचारिक ढंग से हस्तान्तरित करने में शिक्षा की भूमिका महत्वपूर्ण संस्था के रूप में है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

बहुचयनात्मक प्रश्न–

1. ''विवाह एक सामाजिक संस्था है।'' यह कथन है–
   (अ) रिवर्स (ब) लोबो
   (स) गिलिन एवं गिलिन (द) उपर्युक्त सभी
2. निम्न में से हिन्दू विवाह का कौन सा उद्देश्य प्रमुख है?
   (अ) भावनात्मक सुरक्षा (ब) धार्मिक कर्तव्य
   (स) पुत्र प्राप्ति (द) उपर्युक्त सभी
3. किस प्रकार के परिवार विश्व के सभी समाजों में पाये जाते हैं?
   (अ) एकाकी परिवार (ब) संयुक्त परिवार
   (स) विस्तृत परिवार (द) उपर्युक्त सभी
4. जिस परिवार में वंश परम्परा माँ के नाम पर चलती है उसे कहते हैं–
   (अ) मातृवंशीय परिवार (ब) पितृवंशीय परिवार
   (स) मातृसत्तात्मक परिवार (द) पितृसत्तात्मक परिवार
5. नातेदारी या स्वजनता में परिहास रीति किससे संबंधित है।
   (अ) हँसी–मजाक (ब) घृणा
   (स) अपमान (द) क्रोध
6. प्राथमिक संबंधी नातेदारी या स्वजनता की श्रेणी में कुल कितने संबंध बनते हैं।
   (अ) सात (ब) आठ
   (स) दस (द) बीस
7. राज्य के आवश्यक तत्व हैं–
   (अ) निश्चित भू–भाग (ब) जनसंख्या
   (स) सरकार (द) उपर्युक्त सभी
8. संपत्ति के प्रमुख प्रकार हैं–
   (अ) भौतिक (ब) चल एवं अचल
   (स) निजी (द) उपर्युक्त सभी
9. धर्म विश्वास है–
   (अ) समाज में (ब) समुदाय में
   (स) संस्था में (द) अलौकिक सत्ता में
10. शिक्षा का मूल उद्देश्य है।
    (अ) राजनीतिज्ञ बनना (ब) उद्योगपति बनना
    (स) नौकरी दिलाना
    (द) व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास करना

अति लघूत्तरात्मक प्रश्न–

1. विवाह के उद्देश्य बताइये।
2. विवाह कितने प्रकार के होते हैं।
3. बहु–पति विवाह के प्रकार बताइये।
4. परिवार का क्या महत्व है ?
5. वंश एवं सत्ता के आधार पर परिवार के प्रकार बताइये।
6. पारिवारिक विघटन के कोई चार कारण लिखिए।
7. नातेदारी या स्वजनता का अर्थ स्पष्ट कीजिए।
8. वर्गात्मक संज्ञाओं और व्यक्तिकारक संज्ञाओं से आप क्या समझते हैं ?
9. सहप्रसविता या सहकष्ट क्या है ?
10. आधुनिक राज्य के कार्य बताइये।
11. राज्य की उत्पत्ति के किन्हीं तीन सिद्धांतों के नाम बताइये ?
12. राज्य के आवश्यक तत्व बताइये
13. आर्थिक संस्था से आप क्या समझते हैं ?
14. कोई दो आर्थिक संस्थाओं के नाम बताइये ?
15. धर्म की विशेषताएँ बताइये।
16. सामाजिक नियंत्रण में धर्म की भूमिका बताइये।
17. समाज पर धर्म के चार प्रभाव लिखिए।
18. शिक्षा का अर्थ क्या है।
19. शिक्षा कितने प्रकार की होती है।
20. भारत में शिक्षा प्रणाली का महत्वपूर्ण क्षेत्र क्या है ?

लघूत्तरात्मक प्रश्न–

1. विवाह क्या है ?
2. विवाह की दो विशेषताएँ लिखिए।
3. एक विवाह के दो लाभ बताइये।
4. परिवार की दो विशेषताएँ लिखिए।
5. भारत का परिवार किन अंशो तक संयुक्त है ?
6. परिवार के आर्थिक कार्यों का उल्लेख कीजिए।
7. दो या दो से अधिक प्रारंभिक संज्ञाओं को मिलाकर बनाये गये नातेदार या स्वजन सूचक को क्या कहते हैं?
8. विभिन्न स्वजनों के बीच परस्पर हँसी–मजाक के संबंध को क्या कहते हैं ?
9. मातुलेय किस प्रकार के समाजों में पाया जाता है ?
10. राज्य का अर्थ बताइये।
11. सरकार से आप क्या समझते हैं ?
12. कल्याणकारी राज्य क्या है ?
13. सम्पत्ति के प्रमुख प्रकार बताइये।
14. सम्पत्ति की किन्हीं तीन विशेषताओं के नाम बताइये।
15. धर्म क्या है ?
16. धर्म की तीन विशेषताएँ बताइये।
17. धर्म के चार कार्यों का उल्लेख कीजिए।
18. शिक्षा को परिभाषित कीजिए।

19. शिक्षा का महत्वपूर्ण प्रकार्य क्या है ?
20. भारतीय शिक्षा प्रणाली के दोषों पर संक्षिप्त प्रकाश डालिए।

निबंधात्मक प्रश्न–

1. विवाह की परिभाषा दीजिए तथा हिंदू विवाह के परम्परागत और आधुनिक प्रकारों का वर्णन कीजिए।
2. विवाह की प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।
3. विवाह के प्रमुख उद्देश्यों का संक्षिप्त विवरण दीजिए।
4. परिवार को परिभाषित कीजिए। परिवार की विशेषताएँ बताइये।
5. एक संस्था के रुप में परिवार के कार्यों का उल्लेख कीजिए।
6. परिवार के प्रमुख प्रकारों का वर्णन कीजिए।
7. नातेदारी या स्वजनता की रीतियों का वर्णन कीजिए।
8. नातेदारी या स्वजनता शब्दावली अथवा संबंध संज्ञायें क्या हैं ?
9. नातेदारी या स्वजनता से आप क्या समझते हैं? नातेदारी या स्वजनता के प्रकार का वर्णन कीजिए।
10. राज्य की परिभाषा दीजिए व राज्य के आवश्यक तत्वों का वर्णन कीजिए।
11. एक आधुनिक राज्य के कार्य बताइये।
12. राज्य की उत्पत्ति के सिद्धान्तों को समझाइये।
13. आर्थिक संस्थाओं का अर्थ बताईये एवं समाज में पाई जाने वाली आर्थिक संस्थाओं का वर्णन कीजिए।
15. आर्थिक संस्थाओं के विकास का वर्णन कीजिए व उनके सामाजिक प्रभावों को समझाइये।
16. धर्म को परिभाषित कीजिए। इसकी विशेषताओं का वर्णन कीजिए।
17. धर्म की उत्पत्ति के विभिन्न सिद्धान्तों पर प्रकाश डालिए।
18. भारतीय समाज के विभिन्न धर्मों के विश्वास, व्यवहार और प्रभाव का वर्णन कीजिए।
19. शिक्षा को परिभाषित करते हुए इसकी अवधारणा को स्पष्ट कीजिए।
20. औपचारिक एवं अनौपचारिक शिक्षा के अर्थ स्पष्ट करते हुए इसके कार्यों का वर्णन कीजिए।

उत्तरमाला–1. (द) 2. (ब) 3. (अ) 4. (अ) 5. (अ) 6. (ब) 7. (द) 8. (द) 9. (द) 10. (द)